नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १०—अंक ३

संपादक

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

कार्त्तिक संवत् १९८६] [मूल्य प्रतिसंख्या २॥) रुपया

विषय-सूची

Printed by A. Bose, at the Indian Press, Ltd., Benares-Branch.

(२४) बिहारी-सतसई-संबंधी साहित्य

[लेखक—श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०]

(पत्रिका भाग ६, पृष्ठ ३६० के आगे)

(४७)

एक अन्य संस्कृत गद्य टीका

सैंतालीसवीं टीका एक अन्य गद्य संस्कृत टीका है। हमारे पास इसकी एक आद्यंत तथा बीच बीच में से खंडित प्रति है, जिससे इसके रचयिता तथा रचना-काल इत्यादि का कुछ पता नहीं चलता। टीका बड़ी सुंदर तथा बहुत ही सरल संस्कृत गद्य मे है। दोहों के भावार्थ प्रकाश करने की इसमे पूर्ण चेष्टा की गई है। इसमें प्रति दोहे का एक छोटा सा अवतरण लिखकर उसके वक्ता, बोधव्य तथा नायिका-भेद बतलाए गए हैं। वास्तव में यह टीका देवकीनंदन-टीका का एक प्रकार का अनुवाद मात्र है। कहीं कहीं इसके कर्त्ता ने देवकीनंदन टीका की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक्य भी कर दिया है। इस टीका के निदर्शनार्थ इसमे से एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

दोहा

पारयो सोर सोहाग को इन बिन हीं पिय नेह।
उन दोहीं अँखियानि कै, कै अलसोही देह॥ २३१॥

टीका

इयं नायिका रात्रौ पत्या सह प्रेमवार्तां कृत्वा सुरतस्पृहया जागरणं कृतवती। तेनालसा प्रेमगर्वयुता चेति दृष्ट्वा सपत्न्या दुःखं जातम्। तद्दुःखं दूरीकर्तुं तस्याः सखी तां वक्ति—

"उन" तथा "इन" अनया च (?) "दोहीं" उभाभ्यामपि। नेत्रयोरालस्ययुक्तं कृत्वा तथा "देह" शरीरस्यापि आलस्ययुक्तं कृत्वा प्रियस्य स्नेहं विनैव सौभाग्यस्य कोलाहलः पातितः कृतः। प्रेमाभावेऽपि प्रेमाऽस्तीत्युक्तम्। सखी चतुरा, प्रियेण साकं विरसो माभूदित्युक्तमेतत्। अथवा "इन" अनया उन्निद्रे नेत्रे कृत्वा देहे चालस्यं कृत्वा विनैव प्रियस्नेहं सौभाग्यस्य निनाद कृत। अन्यत्पूर्ववत्। दुःखमपनयतु, प्रियेण साकं स्नेहोस्तु इत्येव तात्पर्यं सख्यु (?)। पतिस्नेहदर्शनार्थमागतोयं यदि पतिरेवायं तदा स्वकीयाऽन्यथा परकीया। मित्रमयमुभयोः। यया दृष्ट्वा दु.खं कृत सैवान्यसम्भोगदुःखितेति ज्ञेयम्॥ २३१॥

इस टीका के विषय में हमारी पहले दो धारणाएँ थीं—एक तो यह कि कदाचित् यह टीका वही हो जिस संस्कृत गद्य टीका का विवरण पंडित अम्बिकादत्त जी व्यास ने किया है, और दूसरी यह कि देवकीनंदन टीका इस संस्कृत टीका के सहारे बनी है। पर इस टीका को उलट पुलटकर देखने पर हमारी ये दोनो भावनाएँ जाती रहीं, क्योंकि इसमे "तन भूषन अजन दृगनु इत्यादि" दोहे की टीका के अंत मे यह लिखा है—"अन्योन्यर्थ श्री देवकीनंदन-टीकातोऽवगंतव्य."। इससे स्पष्ट ही प्रमाणित होता है कि यह टीका देवकीनंदन टीका के पश्चात् बनी है, और जो इस टीका तथा देवकीनंदन टीका मे साम्य है उसका कारण यह है कि यह देवकीनंदन टीका का एक प्रकार का अनुवादमात्र है जैसा कि ऊपर कहा गया है। देवकीनंदन टीका संवत् १८६१ मे बनी, और व्यासजी ने जो संस्कृत गद्य टीका की प्रति देखी थी वह सवत् १८४४ की लिखी हुई थी, अतः यह टीका और व्यासजी की कथित टीका एक नहीं हो सकतीं। इसके अतिरिक्त बिहारी-बिहार के अंत में दी हुई दोहों की सूची में जो व्यास जी कथित संस्कृत गद्य टीका के दोहों के अक दिए हैं वे इस टीका के दोहों के अंकों से नहीं मिलते।

इस टीका में क्रम देवकीनंदन टीका का रखा गया है जिसका विवरण दसवें क्रम में किया गया है।

(४८)

शृंगार सप्तशती टीका

अड़तालीसवीं टीका शृंगार सप्तशती नाम की बिहारी के दोहों का दोहों ही में संस्कृतानुवाद है। इसके रचयिता पंडित परमानंद भट्ट ने संवत् १९२५ में इसको बनाकर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा उनके मित्र रघुनाथ पंडित को समर्पित किया था। ये बातें ग्रंथारंभ के कुछ श्लोकों तथा अंत के एक संस्कृत दोहे से विदित होती हैं। ग्रंथारंभ मे कुछ श्लोक ग्रथकार ने श्री भारतेंदुजी तथा उनके मित्र रघुनाथ पंडित जी के वंशवर्णन के दिए हैं, पर अपने विषय मे इतना छोड़कर और कुछ नहीं लिखा है—

"अनुमतिमथाऽऽसाद्य प्रीत्यै तयोर्गुणशालिनो-
　　र्विबुधपरमानंदो नंदन्मुकुंदगुणानुगाम्।
मधुरसरलां दोहाच्छन्दोमयीं रसपूरिता-
　　मनुपमगुणां पुण्यां चक्रे कृतिं सुमनःप्रियाम्॥ १३॥
पौत्रश्चैष मुकुंदभट्टविदुषः ख्यातिश्चिरं संस्कृते
पुत्र. श्रीव्रजचंद्रशर्म्मसुधिय प्रोत्या महत्या तनोत्।
दोहासप्तशती समर्चितगुणा बुंदेलवंश्याधिपै
शय्यां प्राप्य विहार्य्यभिख्यकृतिनो भाषाभृतायाः कृते.॥१४॥

इन श्लोको से इतना ही विदित होता है कि ग्रंथकार का नाम परमानंद, उसके पिता का नाम ब्रजचंद एवं पितामह का नाम मुकुद भट्ट था, और इन दोनों गुणशालियों (श्रीभारतेंदुजी तथा श्रीरघुनाथ पडित) के प्रीत्यर्थ बिहारी के दोहों पर सस्कृत दोहे बनाए गए। अत का संवत् वाला दोहा यह है—

शरद्गुनवचंद्रैर्युतो (?) वैक्रमाब्दगणनेन।
चैत्रकृष्णविष्णोस्तिथौ पूर्णाकृतिः सुखेन॥ ७०१॥

पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में पादटिप्पणी में इनके विषय में यह लिखा है—

"मैंने दस ग्यारह वर्ष के वय मे इनको देखा था। मुझे ठीक स्मरण है कि दशाश्वमेध की संगत मे महंत बाबा सुमेरसिंह शाहजादा साहेब के यहाँ मेरे पिता जी के साथ मैं बैठा था, साहित्य की कोई बात महत जी ने पूछी थी, मेरे पिता जी कह रहे थे इसी समय अकस्मात् बाबू हरिश्चद्रजी और उनके साथ पंडित परमानंद आए। पंडित परमानंद साँवले से थे। लगढग तीस वर्ष का वय था। मैली सी धोती पहिरे मैली छींट की दोहर की मिर्जई पहने बनाती कंटोप ओढे एक खर्डी सी दोहर शरीर पर डाले थे। बाबू साहब ने पिता जी से उनके गुण कहे। सुनके सब उनकी ओर देखने लगे। उनने अपनी हाथ की लिखी पोथी बगल से निकाली और थोडी बाँच सुनाई और अपनी दशा कह सुनाई कि "मुझे—(कन्या-विवाह अथवा और कोई कारण कहा ठीक स्मरण नहीं) इस समय कुछ द्रव्य की आवश्यकता है इसी लिये चिर परिश्रम मे यह ग्रथ बनाया कि किसी से व्यर्थ भिक्षा न माँगनी पड़े। अब मैं इस ग्रंथ को लिए कितने ही राजा बाबुओं के यहाँ घूम चुका। कोई तो कविता के विषय मे महादेव के वाहन मिले कहीं के सभा-पडित घुसने नही देते, कही सस्कृत क नाम से चिढ़, कोई रीझे तो भी पचा गए। कोई कोई वाह वाह की भरती कर रह गए और कोई 'अतिप्रसन्नो दमड़ी ददाति' अब बाबू साहब का आश्रय लिया है।" थोड़े ही दिनो के अनंतर बाबू साहब ने ५००) मुद्रा और उनके मित्र रघुनाथ पंडित प्रभृति ने २००) यों दोहे पीछे १) इनकी बिदाई की। जो अनेक चँवर छत्रधारी राजा बाबू न कर सके, सो वैश्य बाबू हरिश्चद्र ने किया। हा! अब वह आसरा भी कविजन का टूट गया।"

इस ग्रंथ में बिहारी के दोहों का अनुवाद संस्कृत दोहों में करके नीचे अपने रचित दोहों की टीका संस्कृत गद्य मे लिखी है।

अनुवाद सामान्यतः अच्छा और सरस है। ग्रंथकार ने एक यह विलक्षण बात की है कि अनुवादित दोहे पहले रखकर तब बिहारी के दोहे रखे हैं, जिससे अनभिज्ञ पाठकों को यह भासित हो सकता है कि मूल दोहे संस्कृत के हैं और बिहारी के दोहे उनका अनुवाद। निदर्शनार्थ एक दोहे के अनुवाद तथा टीका नीचे दिए जाते हैं—

संस्कृत अनुवाद

सहजालसवपुषाऽनया　सालसलोचनयापि।
दध्रे प्राणसमाभिधा पत्युः प्रेम विनापि॥ १६॥

मूल दोहा

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इन बिन ही पियनेह।
उनदौहीं अँखियाँ ककै कै अलसौही देह॥ १६॥

टीका

पुनरपि स्वीयां वर्णयति। सहजालसं च तद्वपुः तेन करणभूतेनापि सालसे आलसवलिते लोचने यस्याः सा तया अनया विनापि पत्युः प्रेम प्राणसमाभिधा दध्रे धारिता। एतेनान्यनायिकासु यादृक् पतिप्रेम तादृक् मयि नास्तीति दोषानुद्घाटनात् सालसलोचनकरणाच्च पातिव्रत्यशीलसंरक्षणविनयार्जवादिधर्मा अवगतास्तेनास्याः स्वीयात्वम्। अत्र च पतिप्रेमाऽभावरूपप्रतिबंधके सत्यपि प्राणसमाभिधाधारणरूपकार्यस्योत्पन्नत्वात् तृतीया विभावना। कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबंधके इति लक्षणात्। यद्वा चमत्कारार्थमर्थान्तरमाह। स्वपतिसंभोगचिह्नितां सखीं दूतीं वा दृष्ट्वा अपरामंतरंगाम् सखीं प्रति नायिकाया उक्तिः। सहजालसवपुषापि हेतुभूतेन सालसलोचनया अनया सख्या मम पत्युः सकाशात् प्रेम विनापि प्राणसमाभिधा दध्रे। सालसलोचनयेत्यनेन रात्रिजागरः सूचितः। सहजालसवपुषेत्यनेन गाढतरालिंगनांगोपमर्दः सूचित.। सर्वासु सखीषु इयं पत्युः प्राणसमेतिभाव। मम प्राणसमाभिधा अनया गृहीतेति कोपोक्तिर्व्यज्यते। प्रियसंभोगचिह्नेन दूतीं वान्यां विलोक्य या उपालभेत

स्वयंकोपात् सान्यसभोगदु खितेति तल्लक्षणात्। यद्वा सपत्नी संभोगचिह्निता दृष्ट्वा सखीं प्रति सालसलोचनत्वादि तत्तद्रतिचिह्नवर्णनादेतस्याश्च प्रायसमाभिधात्त्ववर्णनाच्च स्वस्यातिदु'खितत्वं वर्णितमिति सपत्नीसभोगदु'खितेति वा ॥ १६ ॥

इस टीका मे दोहों का पूर्वापर क्रम लालचद्रिका के अतिरिक्त आजमशाही क्रम की अन्य किसी प्रति के अनुसार रखा गया है। इसमे ६९९ दोहों के पश्चात् दो दोहे अर्थात् "जद्यपि है सोभा इत्यादि तथा नंद नद गोविन्द इत्यादि", हरिप्रकाश टीका से लेकर रखे हैं। ६९७ दोहे तो इसमे आजमशाही क्रम की किसी प्रति से लिए गए हैं और एक दोहा अर्थात् "ताहि देखि इत्यादि", किसी अन्य पुस्तक से है। बीच बीच मे से २१ दोहे आजमशाही क्रम के इसमे छोड़ दिए गए हैं।

(४९)

सवितानारायण कवि की भावार्थ-प्रकाशिका गुजराती टीका

उनचासवीं टीका गुजराती भाषा में भावार्थ-प्रकाशिका नाम की है। इसको सवत् १९६९ मे गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक तथा कवि श्रीयुत सवितानारायण गणपतिनारायण जी ने रचा है। इस ग्रंथ के नाम से एकाएक यह भासित होता है कि कदाचित् यह विद्यावारिधि स्वर्गीय पंडित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की भावार्थ-प्रकाशिका का गुजराती अनुवाद होगी। पर वास्तव मे यह बात नहीं है, यह एक स्वतत्र टीका है। इसको स्वय ग्रथकार ने अपने श्रम तथा पांडित्य से अनेक टीकाओं को देखकर संपादित किया है। पडित ज्वालाप्रसाद जी की टीका तो ज्ञात होता है कि इन टीकाकार महाशय ने कदाचित् भली भाँति देखी भी नहीं क्योंकि अपनी भूमिका के ग्यारहवे पृष्ठ मे उसका नाम भ्रम से भावार्थदीपिका कहते हैं। प्रतीत होता है कि नाम मे यही भ्रम होने के कारण ही इन्होंने अपनी टीका का नाम भावार्थ-प्रकाशिका रखने मे कुछ हिचक नहीं की।

इस ग्रंथकार ने सतसई के दोहों के समझने तथा समझाने में हार्दिक प्रयत्न किया है और जो अभिप्राय वह स्वयं समझा है, उसको सरल गुजराती भाषा में बहुत अच्छी रीति पर, वक्ता बोधव्य का कथन करके, समझाया है। प्रत्येक दोहे के अलंकार भी टीका में अच्छे ढंग से बतलाए और समझाए गए हैं। भूमिका में भी ग्रंथकार ने बड़ा श्रम करके अपनी योग्यता का परिचय दिया है, यद्यपि उसका एक बड़ा अंश बिहारी-बिहार की भूमिका के आधार पर निर्भर है। गुजराती भाषा जाननेवाले बिहारी के पाठकों के निमित्त यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी है।

इस टीकाकार का जन्म संवत् १८९६ में हुआ था। इनके बनाए हुए इतने ग्रंथ और हैं—(१) अलंकारचंद्रिका, (२) सविताकृत कविता, (३) नीतिसुधातरंगिणी तथा (४) तप्तासंवरण।

इस टीका में दोहों का क्रम कृष्ण कवि की कवित्तोंवाली टीका के अनुसार है, जिसका विवरण छठे क्रम में हो चुका है। पर बीच बीच में से ११ दोहे इसमें छोड़ दिए हैं, और ३० दोहे अधिक रखे हैं। इन अधिक दोहों में एक तो संवत्वाला है और ६ कृष्ण-कवि के रचे हुए हैं। शेष २३ अधिक दोहों में से २ दोहे "एरी-देरी श्रवन इत्यादि" तथा "बधू अधर की इत्यादि" तो बिहारी-बिहार के अंत में संचित दोहों में से लिए गए हैं और २१ दोहे बिहारी-बिहार तथा अन्य ग्रंथों से।

यह टीका गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बंबई से संवत् १९६९ में छपकर प्रकाशित हुई है।

ऊपर कही हुई उनचास टीकाओं के विवरण की समाप्ति पर ३ और टीकाएँ हमारे हाथ आईं, जिनमें से एक टीका तो पुराने ढँग की व्रजभाषा में है, एक नए ढँग की प्रचलित भाषा में और एक फ़ारसी भाषा में। इन तीनों टीकाओं का विवरण नीचे दे दिया जाता है। व्रजभाषा वाली टीका का स्थान यद्यपि समयानुक्रम से संजीवन भाष्य के पूर्व अर्थात् ४० वाँ होना चाहिए क्योंकि इसका

रचनाकाल वि० सं० १८६१ है, पर संजीवन भाष्य का विवरण ४० वें स्थान पर छप चुका था और संस्कृत टीकाओं का विवरण आरंभ हो चुका था अतः उसको ५० वाँ स्थान दिया जाता है। पुस्तकाकार संस्करण में उसका स्थान ठीक कर दिया जायगा तथा और टीकाओं के स्थानों मे भी यथोचित परिवर्त्तन हो जायगा।

(५०)

पचासवीं टीका ईश्वर कवि कृत 'सवैया छंद' नाम की है। ईश्वर कवि जाति के सनाढ्य थे। उनके पिता का नाम मानिकराम था। वे धवलपुर के रहनेवाले थे और वहीं के एक धनाढ्य ब्राह्मण मनोहरसिंह के कहने से यह टीका उन्होंने संवत् १८६१ में बनाई, जैसा कि ग्रंथ के इन दोहो से विदित होता है -

लसत धवलपुर नगर महँ दुजबंसी सुखलाल।
भजनसिंघ तिनके तनय सब बिधि बुद्धि-बिसाल ॥ ३ ॥
पुत्र मनोहरसिंघ तिहिँ भे कबित्त-रस-लीन।
सुकबि बिहारी-दास की पढ़ि सतसई प्रवीन ॥ ४ ॥
दुज सनाढ्य दीच्छित-सुकुल गोत्र सु भारद्वाज।
रहत धवलपुर नगर महँ भागीरथि सुख साज ॥ ५ ॥
तिहिँ सुत मानिकराम भे तिहिँ सुत इस्वरनाम।
कह्यौ मनोहरसिंघ नै तिनसौं वचन ललाम ॥ ६ ॥
अति हित अति आदर सहित अति मन मोद बढाइ।
करहु सतसई के सरस कबित सरस रस छाइ ॥ ७ ॥
संवत आतम रितु भगति सूरज-रथ कौ चक्र।
भादव सुदि[१] नवमी[६] दिने[८] अर्कवार वर नक्र[१] ॥८॥

ग्रंथांत में ईश्वर कवि न ये १४ दोहे लिखे हैं—

सुकवि बिहारीदास नै करी सतसई गाइ।
ताके सँग मैं कृस्नकवि दीने कवित लगाइ ॥ १ ॥
सोई लखि ईस्वर सुकवि मन मैं कियौ बिचार।
तबइ मनोहरसिंघ नै अति आदर-विस्तार ॥ २ ॥

ईश्वर कवि सौं यौं कह्यौ जो उनके मन माँह ।
करे सवैया सब रचे दोहा प्रति निज राह ॥ ३ ॥
चतुर याहि समुझैं सुनैं गुनैं रसिक मतिवंत ।
देखैं दूषन धर कुकवि मूरख देखि हँसंत ॥ ४ ॥
उनसठि बरस मँझार मैं करे ग्रंथ सुनि लेहु ।
सबत् विक्रम तीनि तैं इकसठि लौं गुनि लेहु ॥ ५ ॥
प्रथम समर-सागर[1] कियौ साम्बयुद्ध[2] सुखकंद ।
फिरि अनिरुद्ध-बिलास[3] हम कह्यौ सबै विधि सुद्ध ॥ ६ ॥
कोक-कलानिधि[4] जानियै प्रेम-पयोनिधि[5] फेरि ।
काम-कल्पतरु[6] लै बहुरि भावअब्धि[7] कौं हेरि ॥ ७ ॥
रितु-प्रबोध[8] मन बोध कहि वैद्य-सुजीवन[9] जानि ।
कालज्ञान[10] भाषा कियो अमरकोष[11] मन मानि ॥ ८ ॥
भक्ति-रत्नमाला[12] करी ध्यान कौमुदी[13] जानि ।
नखसिख[14] अहि-लीला[15] ललित कीनी बुद्धि प्रमानि ॥ ९ ॥
ध्वनि-व्यंग्यारथ-चद्रिका[16] चित्र-कौमुदी[17] जोग ।
भारथसार[18] बनाइयौ मेटन सकल प्रयोग ॥ १० ॥
जमक-सतसई[19] करि करी क्रमचंद्रिका[20] विसेषि ।
कृष्ण-चद्रिका[21] सरस करि कृष्ण-सुहयमघ[22] लेषि ॥११॥
बहु-पुरान-मत पाइ किय राधा-रहस[23] बनाइ ।
वालमीकि[24] भाषा कियै आदिउपात सुभाइ ॥ १२ ॥
रामचंद्रिका कौ कियै टीका[25] सरस बनाइ ।
रसिकप्रिया[26] कौ तैसही कह्यौ सरस मन लाइ ॥ १३ ॥
करे बिहारीदास की सतसइ पर रस-भोइ ।
नाम सवैया छंद किय आन छंद नहिं होइ ॥ १४ ॥

इन दोहों से ज्ञात होता है कि ईश्वर कवि अनेक विषयो के ज्ञाता और बहुरचनाप्रिय थे । सवत् १९०३ से संवत् १९६१ तक अर्थात् ५९ वर्ष के समय मे उन्होने २७ ग्रंथ रचे जिनमें कोई-कोई ग्रथ बहुत बड़े बडे भी हैं जैसे भारत-सार तथा वाल्मीकि का भाषा-

नुवाद। सतसई के दोहों पर सवैया का ग्रंथ उनकी अंतिम रचना है। उनका रचनाकाल सवत् १६०३ से आरभ होता है। यदि उस समय उनकी अवस्था १८ वर्ष की मानी जाय तो उनका जन्म सवत् १८८५ के आसपास का ठहरता है। संवत् १६६१ में उनकी सतसई टीका बनी। यदि उसके पश्चात् उनका ८—६ वर्ष तक जीवित रहना अनुमानित किया जाय तो संवत् १६७० के निकट तक उनका इस ससार में रहना अर्थात् ८५ वर्ष की आयु प्राप्त करना ठहरता है।

उनका और कोई ग्रंथ हमारे देखने मे नहीं आया है, अत· उनकी कविताशक्ति का अनुमान केवल इसी टीका के सहारे करना पड़ता है। इस टीका मे दो एक दोहों पर तो टीकाकार ने कुछ संक्षिप्त सी टिप्पणी भी लिख दी है पर शेष दोहो पर केवल एक एक सवैया लिखकर संतोष कर लिया है। सवैया सामान्यत अच्छे हैं पर कृष्ण कवि के सवैयो तथा कवित्तो को नहीं पाते। यह ग्रथ कृष्ण कवि के ग्रंथ को देखकर उसी के जोड़ पर बनाया गया है। इसमे दोहों की सख्या तथा क्रम भी उसी ग्रंथ के अनुसार ही रखे गए हैं। दोहों की सख्या मे दो चार का न्यूनाधिक्य पाया जाता है और क्रम में भी कुछ दोहे आगे पीछे कर दिए गए हैं। इसके क्रम तथा संख्या के विषय मे कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

इसके सवैयों के निदर्शनार्थ बिहारी का एक दोहा और उस पर लगाया हुआ सवैया नीचे दिया जाता है—

दोहा

पारयौ सोरु सुहाग कौ इन बिनुहीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखिया ककै कै अलसौंही देह॥

सवैया

देखि कै आवत बाल बधू बतरानी सबै करि आप सनेह है।
ईस्वर देखौ करै मिस कैसे हरै मन मारुत यौं नभ मेह है॥

पीतम ही बिन पारयौ सुहाग कौ यानै अरी अबही करि नेह है।
कीनी उनींदी भली अँखियाँ अरु सौहैं करी अलसौंही सी देह है॥

इस टीका से दोहों के अर्थों के स्पष्टीकरण मे कुछ सहायता नहीं मिलती। इसमे केवल टीकाकार ने अपनी समझ के अनुसार दोहों के भावों का सवैयों मे विस्तार किया है। पर उससे अर्थबोध मे कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती, प्रत्युत कहीं कहीं तो और भी उलझन बढ़ जाती है।

(५१)

इक्यावनवीं टीका श्रीरामवृक्षजी शर्म्मा बेनीपुरी की की हुई है। इस टीका का प्रथम सस्करण संवत् १९८२ की रामनवमी पर गुर्जर प्रेस बनारस मे छपकर हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय से प्रकाशित हुआ है। इसमे रचयिता ने दोहों के अर्थ सुगम प्रचलित भाषा मे बडे अच्छे ढंग से दे दिए हैं और कठिन शब्दों के अर्थ भी नीचे जता दिए हैं। विद्यार्थियों को सतसई मे प्रवेश करा देने के निमित्त यह टीका बहुत अच्छी है। इसमे अलंकार इत्यादि का झगडा नहीं उठाया गया है। अर्थ के स्पष्टीकरण मात्र की चेष्टा की गई है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे दी जाती है—

पारयो सोरु सुहाग कौ इन बिनहीं पिय-नेह।
उनिदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥ ६११॥

ऊँघी हुई आँखे या अलसाई हुई देह बना बनाकर इस स्त्री ने बिना प्रियतम के प्रेम के ही अपने सुहाग की ख्याति फैला दी है (यद्यपि प्रियतम इस पर अनुरक्त नहीं तो भी इसकी उपर्युक्त चेष्टा देखकर लोग समझते हैं कि यह सदा नायक के साथ जगी हुई रहती है।)

सोर पारयौ=ख्याति फैला दी। सुहाग=सौभाग्य। उनिदौंहीं=उनींदी, ऊँघी हुई। ककै=करके। कै=या। अलसौंहीं=अलसाई हुई।

यह टीकाकार महाशय बिहार प्रांत के बेनीपुर नामक स्थान के रहनेवाले हैं। हिंदी भाषा के ये बड़े प्रेमी और सुलेखक हैं। कई हिंदी पत्र पत्रिकाओं के संपादकीय विभाग में काम कर चुके हैं। इनकी अवस्था अभी ३० वर्ष के अनुमान होगी। जाति के ये भूमिहार ब्राह्मण हैं। इनके स्वर्गीय पिता का नाम पं० फूलवंत-सिंहजी शर्म्मा था। उन्हीं को यह टीका समर्पित की गई है।

श्री रामलोचन-शरणजी बिहारी के अनुरोध से यह टीका रची गई है और उन्हीं के द्वारा सपादित भी हुई है। इन महाशय के विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कह देना अलम् है कि आप हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय के अध्यक्ष हैं।

(५२)

बावनवीं टीका श्रीजोशी आनंदीलालजी शर्म्मा की रचा हुई फारसी भाषा में है। इस टीका का निर्माणकाल इसके अंत में सन् १३१४ हिजरी बताया गया है जो सन् १८८९ होता है। श्री आनंदीलालजी के पूर्वज ६ पीढ़ी से अलवर की राज्यसभा के सभा-सद रहते आए और उर्दू फारसी की शायरी करते थे। ये महा-शय भी उक्त सभा में उसी काम पर रहे। यह टीका उन्होंने अलवर के श्री महाराज जयसिंह सवाई के समय में बनाई और इसका नाम सफ़रंगे सतसई रखा।

इस टीका में जोशीजी ने दोहों का फारसी भाषा में अपनी समझ के अनुसार अनुवाद मात्र करने की चेष्टा की है। इससे बिहारी के दोहों के भावों के स्पष्टीकरण में विशेष सहायता नहीं मिल सकती, पर तो भी अनुवाद बहुत समझ बूझकर किया गया है। निदर्शनार्थ एक दोहे का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परें स्यामु हरित दुति होइ ॥ १ ॥

تمام تصدیقات دنیاوی مرا دور کنند—ای رادها هوشمند
آنکه از افتادن عکس تن او که مثل زعفرانست رنگ سیاه کانهه
سرسبز مشود یعنی از ملاقات او کانهه خوشوقت می شود

(तमामे तस्दीक़ाते दुनियावी मरा दूर कुनेद–ऐ राधा होशमंद आँकि अज़ उफ़तादने अक्से तन ऊ कि मिस्ले जाफ़रानस्त, रंगे सियाहे कान्ह सरसब्ज मीशवद याने अज़ मुलाक़ाते ऊ कान्ह .खुशवक्त़ मीशवद)

(मेरे सब सासारिक दु:खो को दूर करो ए वही चतुर राधा—जिसके तन (जो केसरिया रंग का है) की छाया पड़ने से कान्ह जो श्याम रंग के हैं हरे-भरे हो जाते हैं अर्थात् जिसके भेट होने से कान्ह प्रसन्न हो जाते हैं)

इस पुस्तक मे ६४० दोहे रखे गए हैं और दोहों का पूर्वापर क्रम इसमे विहारी के निज क्रम के अनुसार है। इसके क्रम तथा सख्या के विषय मे विहारी की निज क्रम की पुस्तकों के विवरण के अतर्गत लिखा जा चुका है।

(५३)

तिरपनवीं टीका बिहारी-रत्नाकर नाम की स्वय इस दीन लेखक की की हुई है। इसका प्रथम सस्करण नवलकिशोर प्रेस लखनऊ मे छपकर पडित दुलारेलालजी भार्गव द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसके विषय मे कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है। इसमे दोहों के पूर्वापर क्रम तथा सख्या अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर वही रखे गए हैं जो स्वय बिहारी के समझे गए। दोहों के पाठ भी इसमें प्राचीन प्रतियों के सहारे यथासंभव शुद्ध किए गए हैं। इस संस्करण मे अलंकारादि का बखेड़ा नहीं उठाया गया है। केवल दोहों के यथार्थ भावों के स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इसमें टीकाकार कहाँ तक सफल हुआ है यह विज्ञ पाठकों की अनुमति पर निर्भर है।

टीकाकार का परिचय प्रकाशक ने इस टीका मे ही दे दिया है। अतः उसके दोहराने की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

बिहारी सतसई के ऊपर कहे हुए टीकाकारों, अनुवादकों तथा कुंडलिकादि में दोहों का विस्तार करनेवालो के अतिरिक्त और भी कई महाशयों ने इस पर टीका अथवा कुंडलियादि रचने की चेष्टा की, पर उनके ग्रंथ पूरे न हो पाए। उनमे से दो महाशयों अर्थात् स्वर्गवासी भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र और श्री पंडा जोखूरामजी के नाम तथा उनकी रचना के कुछ आदर्श बिहारी-बिहार की भूमिका में दिए हैं।

श्रीभारतेंदुजी के विषय मे कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उनसे हिंदी साहित्य के प्रेमी भलो भाँति परिचित हैं। अत: बिहारी के दोहों पर उनकी पाँच कुंडलियाँ नीचे लिखो जाती हैं—

मेरी भवबाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होय ॥
स्याम हरित दुति होय पर जा तन की झाँई।
पाँय पलोटत लाल लखत साँवरे कन्हाई ॥
श्रीहरिचद वियोग पीतपट मिलि दुति हेरी।
नित हरि जा रँग रँगे हरौ बाधा सोइ मेरी ॥ १ ॥

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
एहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारी लाल ॥
सदा बिहारीलाल बसो बाँके उर मेरे।
कानन कुडल लटकि निकट अलकावलि घेरे ॥
श्रीहरिचद त्रिभग ललित मूरति नटवर सी।
टरौ न उर तें नेकु आज कुंजनि जो दरसी ॥ २ ॥

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित अतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ ॥
प्रतिबिंबित जग होइ कृष्णमय ही सब सूझै।
इक सयोग बियोग भेद कछु प्रकट न बूझै ॥

श्रीहरिचंद्र न रहत फेर बाकी कछु जोहन ।
होत नैन मन एक जगत दरसत जब मोहन ॥ ३ ॥

तजि तीरथ हरि राधिका तनदुति करि अनुराग ।
जिहि ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ॥
पग पग होत प्रयाग सरस्वति पग की छाया ।
नख की आभा गंग छाँह सम दिन कर जाया ॥
छनछबि लखि हरिचंद कलप कोटिन नवसम लजि ।
भजु मकरध्वज मनमोहन मोहन तीरथ तजि ॥ ४ ॥

सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर ॥
वा जमुना के तीर सोई धुनि अँखियनि आवै ।
कान बेन धुनि आन कोऊ औचक जिमि नावै ॥
सुधि भूलत हरिचंद लखत अजहू वृंदावन ।
आवन चाहत अबहिं निकसि मनु स्याम सरस घन ॥ ५ ॥

आपकी कुडलियों का संग्रह सतसई श्रृंगार नाम से भाषासार नामक पुस्तक मे खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर में छपा है ।

श्रीजोखूराम जी पंडा के विषय मे पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने यह लिखा है—

"सुना है कि इनने भी थोडी सी कुंडलियाएँ बनाई थीं । ये काशीवासी थे । बडे हनुमान जी के पंडे थे । कुछ फारसी जानते थे । यूनानी दवा भी करते थे । इनका कवित्त पढ़ना बड़ा हल्ले धूम का था । बाबू हरिश्चद्र की कवि-सभा के सभ्यों मे एक ये भी थे । विद्या बहुत गहिरी न थी पर डीलडौल बड़ा था । संवत् १६३८ मे ये लगढग ४५ वर्ष के थे । इनका नाम मेरी समझ मे पहले पहल श्रीराधाचरण गोस्वामी ने निज भारतेंदु मे कुंडलिया-कारों में लिखा और कदाचित् यही देखके श्री ग्रियर्सन साहब और पंडित प्रभुदयाल ने निज ग्रंथों मे लिखा । इसका तत्त्व यों है । एक

बेर काशी में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के यहाँ मैं, बाबू रामकृष्ण वर्म्मा, द्विज कवि मन्नालाल और द्विज बेनी कवि प्रभृति बैठे थे और पठान की कुंडलिया की प्रशंसा की बात चली। एक कोने से जोखूरामजी बोल उठे "क्या बड़ी बात है, हुकुम हो तो मैं इससे उत्तम कुंडलिया बना लाऊँ।" बाबू हरिश्चंद्र ने कहा "अच्छा लाइए, अच्छी होंगी तो फी कुंडलिया एक रुपया मैं दूँगा।" अनंतर उनने पाँच सात कुंडलियाँ बनाईं और लाए परंतु वे कुंडलियाएँ न तो बाबू साहब ही को अच्छी लगीं और न जिने जिने उनने दिखलाईं सरदार, द्विज मन्नालाल प्रभृति को ही अच्छी लगीं। बस किस्सा तमाम।"

श्री जोखूराम जी को स्वयं हमने देखा है। ये संवत् १९६५ के आस पास तक जीवित थे। उस समय उनकी अवस्था ७५ वर्ष के अनुमान रही होगी। ये सरदार कवि के शिष्य थे और भाषा साहित्य का अच्छा ज्ञान रखते थे। भाषा ग्रंथों का संग्रह भी इनके पास अच्छा था। ये कविता मे अपना नाम नागर रखते थे।

जहाँ तक क्रमों तथा टीका इत्यादि का पता हमको मिल सका उनका कुछ विवरण हमने ऊपर कर दिया। आशा है कि यदि विशेष अनुसधान किया जाय तो सतसई के और भी कितने ही क्रम, टीकाएँ तथा अनुवाद इत्यादि प्राप्त हों।

बिहारी पर स्फुट लेख

ऊपर कहे हुए क्रमो तथा टीकाओं के अतिरिक्त कई एक महाशयों ने बिहारी पर उनके जीवनचरित्र संबंधी अथवा उनके गुण-दोष-निदर्शनार्थ कुछ लेख इत्यादि भी समय समय पर लिखे हैं। उनका भी कुछ विवरण नीचे लिखा जाता है—

ऐसे लेखों के विवरण से हमारा अभिप्राय उनमे कही हुई बातों के उचित अथवा अनुचित कहने का नहीं है। क्योंकि इस कार्य के निमित्त तो एक बृहत् स्वतत्र ग्रथ की आवश्यकता है, और यहाँ उसका विशेष रूप से कहना अतिप्रसंग भी हो जायगा। हमारा तात्पर्य यहाँ ऐसे लेखों के संक्षिप्त विवरण द्वारा उनका तथा उनके

लेखकों का परिचय दे देना मात्र है जिसमें बिहारी के पाठकों को तद्विषयक सब साहित्य का पता, जहाँ तक हमको ज्ञात है, मिल जाय और वे स्वयं उन लेखों के औचित्यानौचित्य पर विवेचना कर सकें।

(१)

पहले पहल संवत् १७४२ में जो सतसई का क्रम कोविद कवि ने बाँधा, उसके अंत मे यह दोहा बिहारी की प्रशंसा का लिखा है—

किए सात सै दोहरा सुकवि बिहारीदास।
बिनुहिँ अनुक्रम ये भए महि मडल सु प्रकास ॥१॥

इस दोहे मे बिहारी के दोहों की लोकप्रियता तथा शीघ्र ही जगत् मे विख्यात हो जाने के गुण की प्रशंसा की गई है।

(२)

सवत् १७५० के आस पास पुरुषोत्तमदासजी ने सतसई का जो क्रम बाधा उसके अत मे ये दो दोहे बिहारी की प्रशसा के लिखे हैं—

रससुखदायक भक्तिमय जामैं नवरस-स्वाद।
करी बिहारी सतसई राधाकृष्ण-प्रसाद ॥ १ ॥
जद्यपि है शोभा सहित मुक्तनि तऊ सुदेखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेषि ॥ २ ॥

इनमे से दूसरा दोहा आजमशाही क्रम, अमरचंद्रिका टीका तथा हरिप्रकाश टीका के अंत मे भी उद्धृत किया गया है।

(३)

संवत् १७८२ मे कृष्णदत्त कवि ने अपने कवित्तोवाली सतसई की टीका मे ये छ दोहे बिहारी की प्रशंसा के लिखे हैं—

ब्रजभाषा बरनी कबिन बहु बिधि बुद्धि-बिलास।
सबको भूषण सतसई करी बिहारीदास ॥
जो कोऊ रसरीति कों समुझ्यौ चाहै सार।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता को शृंगार ॥
उदै अस्त लौं अवनि पै सबके याकी चाह।
सुनत बिहारी सतसई सबही करत सराह ॥

भाँति भाँति के अरथ बहु यामें गूढ अगूढ़ ।
जाहि सुने रस रीति को मग समझत अति मूढ ।।
विविध नायिका-भेद अरु अलंकार नृप नीति ।
पढ़ै बिहारी सतसई जानै कवि रस रीति ।।
करे सात सै दोहरा सुकवि बिहारीदास ।
सब कोऊ तिनको पढै गुनै सुनै सविलास ।।

(४)

संवत् १७६४ मे सूरत मिश्र ने अपनी अमरचंद्रिका टीका मे पुरुषोत्तमदासजी का 'यद्यपि है सोभा घनी इत्यादि' दोहा बिहारी की प्रशंसा करने के निमित्त उद्धृत किया ।

(५)

संवत् १८०९ मे ईसवी खाँ ने अपनी रसचद्रिका टोका के अत मे ये दो दोहे सतसई की प्रशंसा मे लिखे—

किय प्रसंग नरवर-नृपति छत्रसिह भुव-भान ।
पढ़त बिहारी सतसई सब जग करत प्रमान ।। १ ।।
कविनि किए टीका प्रगट अर्थ न काहू कीन ।
अपनी कविता के लिये और कठिन करि दीन ।। २ ।।

इन दोहों से सतसई का लोकप्रिय, प्रामाणिक तथा कठिन होना कहा गया है ।

(६)

सवत् १८३४ मे हरिचरणदासजी ने ये दो दोहे बिहारी की प्रशंसा के लिखे—

जद्यपि है सोभा घनी मुक्ताफल मैं देख ।
गुहै ठौर की ठौर मैं लर मैं होति बिसेष ।। १ ।।
ब्रजभाषा बरनी सबै कबिबरबुद्धि बिसाल ।
सबकी भूषन सतसई करी बिहारीलाल ।। २ ।।

इनमें से पहिला दोहा तो कुछ हेर फेर के साथ पुरुषोत्तमदास जी ही का है, जिसके बाँधे क्रम पर यह टीका की गई है, और

दूसरा दोहा कुछ पाठांतर के साथ कृष्ण कवि का। हरिचरण-दास जी ने अपनी टीका मे किसी किसी दोहे में कुछ स्वल्प दोष भी दिखलाए हैं और फिर सवत् १८३६ में बिहारी के ५०, ६० दोहो को अनेक प्रकार के दूषणों के उदाहरण मे उद्धृत किया है।

(७)

पंडित अंबिकादत्त व्यासजी ने जिस संस्कृत गद्य टीका का उल्लेख बिहारी-बिहार की भूमिका मे किया है उसमे यह एक दोहा सतसई की प्रशंसा का है—

सतसैया के दोहरा ज्यों नावक के तीर।
देखत अति छोटे लगैं घाव करैं गभीर॥

यह दोहा पहले पहल उक्त टीका ही मे देखने मे आता है, इसके पूर्व के किसी ग्रंथ मे इसका पता नहीं है, यद्यपि मुखाग्र यह बहुत सुनने मे आता है और पिछले लेखकों ने इसको अपने लेखों मे भी स्थान दिया है।

(८)

सवत् १८६१ मे ठाकुर कवि ने देवकीनंदन की सतसैयावर्णार्थ नामक टीका के आदि मे बिहारी का कुछ विशेष वृत्तांत वर्णन किया है तथा सतसई की कुछ प्रशसा भी की है। उन्होंने सतसई को बिहारी की स्त्री की बनाई हुई माना है। उनके लेख का विशेष वर्णन बिहारी की जीवनी में द्रष्टव्य है।

(९)

श्रीराधाचरणजी गोस्वामी ने भी अपने भारतेदु पत्र मे बिहारी की जाति इत्यादि के विषय मे कुछ लिखा था और उनकी कविता की पूर्ण प्रशंसा भी की थी। उन्होने तो यहाँ तक कह दिया है कि सूर, तुलसी तथा केशवदास के काव्य बिहारी के दोहों के आगे मद पड़ जाते हैं।

(१०)

भाषाकाव्यसंग्रह के कर्त्ता सरयूपारीण पडित महेशदत्तजी ने भी उक्त ग्रंथ मे बिहारी के विषय मे कुछ लिखा है। उनके मत से बिहारी वृंदावनवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

(११)

भाषातरंगिणीकार ने भी बिहारी के विषय मे कुछ अपने अनुमान लगाए हैं। उनके मत से बिहारी माथुर चौबे ठहरते हैं।

(१२)

स्वर्गवासी बाबू शिवसिंहजी सेंगर ने सवत् १९३४ मे अपने सरोज मे बिहारी की बडी प्रशसा की है, और उनको ब्रजवासी चौबे कहा है।

(१३)

स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदासजी ने सवत् १९५२ में कविवर बिहारीलाल नामक एक छोटा सा प्रबन्ध नागरीप्रचारिणी सभा मे पढा, जिसमे बिहारी क अनेक दोहो से उनका प्रसिद्ध कवि केशवदास क पुत्र होना सिद्ध करने की चेष्टा की, और बिहारी की कविता की बहुत प्रशसा की।

(१४)

सवत् १९५३ मे डाक्टर सर, जी० ए० ग्रियर्सन, क० सी० एस० आई०, सी० आई० ने, जो कि भाषा के बड़े विद्वान् तथा अनुसधानकर्त्ता थे, अपनी लालचद्रिका के सस्करण की भूमिका मे, अँगरजा भाषा मे, बिहारी पर एक बृहत् लेख लिखा है। उसमे उन्होंने बिहारी के विषय मे तथा सतसई की टीकाओ इत्यादि के विषय मे, जहाँ तक उनको अनुसधान से ज्ञात हो सका, बहुत कुछ लिखा है और बिहारी की रचना की बडी प्रशंसा की है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि, अँगरेजी भाषा का कोई मुक्तक काव्य करनेवाला बिहारी की समता नही कर सका है, बिहारी के दोहो की रचना कुछ ऐसी है कि उनको अन्य भाषा में यथेष्ट रीति पर अनुवादित करने की चेष्टा करना सर्वथा व्यर्थ है।

(१५)

सवत् १९५३ ही मे श्रीपंडित प्रभुदयाल जी पाँड़े ने जो बिहारी सतसई की टीका की उसकी भूमिका मे उन्होंने बिहारी को ब्रजभाषा

के कवियों में शिरोभूषण तथा उनकी सतसई को कविता की अपूर्व कला से भरी हुई कहा है, और अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करके उनको माथुर ब्राह्मण, तथा कृष्णदत्त को उनका पुत्र अथवा पुत्रवत् शिष्य माना है। उन्होंने इन दो दोहों को बिहारी के समझकर इनको उनकी आत्मश्लाघा के उदाहरण मे दिया है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत के छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर॥ १॥
जो कोऊ रस रीति को समझ्यौ चाहै सार।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता को शृंगार॥ २॥

पर वास्तव मे य दोहे बिहारी के नहीं हैं। कदाचित् पाँड़े ही जी के लिखने से धोखा खाकर मिश्रबधु महाशयों ने हिंदी नवरत्न मे बिहारी का मानकर इन्हे उद्धृत किया है।

(१६)

सवत् १९५४ मे स्वर्गवासी साहित्याचार्य श्रीपडित अंबिकादत्त जी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका मे बिहारी पर एक बृहत् लेख लिखा। उसमे उन्होने बिहारी के भाव, शब्द, रचना-प्रणाली इत्यादि सभी की प्रशसा की है, और बिहारी की जीवनी तथा उनकी जाति इत्यादि पर विशेष तर्क करके उनको माथुर चौबे माना है। बड़ी खोज करके उन्होने २६ टीकाओ का भी उल्लेख किया है। यह भूमिका बड़ अनुसधान से लिखी गई है, और एक स्वतंत्र प्रबध के रूप मे पाठकों के निमित्त उपयोगी है। बिहारी के किसी किसी दोहे पर टिप्पणी करके व्यासजी ने कुछ दोष भी दिखलाए हैं।

(१७)

सवत् १९६० मे स्वर्गवासी विद्यावारिधि श्रीयुत पडित ज्वाला-प्रसाद जी मिश्र ने सतसई की भावार्थप्रकाशिका नामक टीका की भूमिका मे, बिहारी की बहुत प्रशसा की और उनकी प्रशंसा के तीन प्राचीन दोहे, अर्थात् 'सतसैया के दोहरे इत्यादि', 'ब्रजभाषा बरनी इत्यादि', तथा 'कर सात सै दोहरे इत्यादि' भी उद्धृत किए।

इस भूमिका मे उन्होंने बिहारी की कुछ जीवनी भी लिखी है और बिहारी को माथुर चौबे माना है।

(१८)

संवत् १६६७ में मिश्रबंधु महाशयों ने बिहारी को हिंदी-नवरत्न नामक ग्रंथ मे चौथा स्थान देने का गौरव प्रदान किया। उक्त प्रबंध मे उन्होंने बिहारी की जीवनी भी लिखी है और बिहारी को चौबे माना है। सतसई की कविता की हिंदी-नवरत्न मे व्याप्त प्रशंसा की गई है, और उसके शब्द, अर्थ, भाव, उक्ति, युक्ति, सूझ, बूझ सभी श्रेष्ठ बतलाए गए हैं, कुछ विशेष दोहों के संबंध में विशेष गुणों का कथन भी किया गया है। उक्त महाशयों ने, अपने अर्थ-बोध तथा मत के अनुसार, बिहारी के कुछ शब्दो, भावो इत्यादि मे कुछ दोष भी बतलाए हैं, जो बिहारी के प्रेमी पाठक स्वय उस ग्रंथ मे देख सकते हैं। चाहे मिश्रबंधु महाशयों का बिहारी तथा देव मे तारतम्य करना एवं उनके गुणों तथा दोषों के आरोप यथार्थ समझे जायँ अथवा अन्यथा, पर उनके उस समय तक की लेखप्रणाली से कोई आग्रह अथवा पक्षपात लक्षित नहीं होता।

उक्त प्रबंध मे जो ७ दोहे सतसई की प्रशंसा के बिहारीरचित कहकर रखे गए हैं वे वास्तव में बिहारी के नहीं हैं। मिश्रबंधु महाशयों ने प्रभुदयाल पांडे जी की टीका के दोहांक इत्यादि अपने प्रबंध मे आहत किए हैं पर उस टीका मे भी इन ७ दोहों मे से केवल २ दोहों को एक स्थान पर भूमिका में बिहारीकृत कहा है। पर फिर अत मे ये सातों दोहे सतसई की प्रशसा मे एकत्र रक्खे हैं जिससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि पाँडे जो भी इन दोहो को बिहारीकृत नहीं समझते थे, और भूमिका में केवल २ दोहों के विषय मे उनको भ्रम हो गया था।

मिश्रबंधु महाशयों का सतसई को भली भाँति जी लगाकर न देखना ही इस असावधानी का कारण प्रतीत होता है। उक्त महाशयों के बतलाए हुए सतसई के दोषो मे से अधिकांश दोषारोप

भी इसी असावधानी के परिणाम कहे जा सकते हैं, जैसे "दुसह बिरह दारुण दसा इत्यादि" (प्रभुदयाल अंक ४२१) दोहे में 'ज्यौ' शब्द का पाठ पाँडे जी के अनुसार उन्होंने 'ज्यो' मानकर और उसका अर्थ 'ज्यों त्यों' समझकर बिना अन्य किसी टीका के देखे ही दोषारोप कर दिया है। यदि उक्त महाशय हरिप्रकाश अथवा लालचंद्रिका इत्यादि किसी टीका मे इस दोहे को देखने का कष्ट उठाते अथवा स्वयं ही कुछ विचारते तो ऐसा कदापि न करते।

(१९)

संवत् १९६९ में गुजराती प्रसिद्ध कवि श्रीसवितानारायण गणपतिनारायणजी ने सतसई की एक भावार्थ-प्रकाशिका नाम की टीका जो गुजराती भाषा में रची, उसकी बृहत् भूमिका में अनेक टीकाकारों विशेषत. सर जी० ए० ग्रियर्सन तथा स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त जी व्यास के मतानुसार तथा अपनी बुद्धि से तर्क वितर्क करके बिहारी की जीवनी, सतसई के निर्माण का कारण, जयसिंह का वृत्तांत इत्यादि अनेक उपयोगी विषय लिखे हैं। उसमें उन्होंने बिहारी की प्रशसा व्याप्त रूप से भी की है और कितने विशेष दोहो के गुण लक्षित कराकर भी। इन्होंने बिहारी की भाषा, शब्द-विन्यास तथा अनुप्रासादि की प्रशंसा भी विशेष रूप से की है, और सामान्यत. व्रजभाषा की प्रशसा मे भक्तराज कवि दयाराम के ये दोहे उद्धृत किए हैं—

> श्लोक पुरानी सस्कृत बाँचत सब इतराय।
> फुल्य सुफल गिरबान जब श्रोता ले समुजाय ॥ ७०६ ॥
> बुध कहि भाषा बाद जो सुर बानी इक साँच।
> तो हम कहि वे मूर्ख हे साच न लावे आँच ॥ ७०७ ॥
> बेद बड़े गिरबान तें नारायन की बानि।
> ब्रजभाषा भल ताहि तें ब्रजपति भषि मख जानि ॥ ७०८ ॥

यह भूमिका बड़ो विद्वत्ता से लिखी गई है और पाठकों के देखने योग्य है।

(२०)

संवत् १९७५ मे साहित्याचार्य श्रीयुत पंडित पद्मसिंहजी शर्म्मा ने अपने संजीवन भाष्य की भूमिका मे, जो कि बृहदाकार होने के कारण एक पृथक् भाग मे मुद्रित हुई है, बिहारी के दोहों की तुलना अन्य संस्कृत, भाषा, उर्दू इत्यादि के कवियों से करके बिहारी का सर्वोत्कृष्ट कवि होना सिद्ध किया है, और जिन जिन दोहों को तुलना के निमित्त उद्धृत किया है उनके गुणो को बड़ी अच्छी रीति पर दिखलाया है। शर्म्माजी ने व्यासजी तथा मिश्रबंधु महाशयों के आरोपित कतिपय दोषो को अयथार्थ भी बतलाया है। इस भूमिका में बहुत सी बातें पाठकों के बडे काम की हैं। शर्म्माजी ने यह भूमिका बड़े अनुसंधान तथा योग्यता से बडी चटपटी भाषा मे लिखी है। सामयिक शिक्षित समाज का ध्यान बिहारी सतसई की ओर आकर्षित करने मे यह भूमिका बहुत उपयोगी हुई है। भाषा मे तुलनात्मक समालोचना के ढंग का यह पहला ग्रंथ कहा जा सकता है। बिहारी के प्रेमियो को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

(२१)

शर्म्माजी का बिहारी को सर्वोत्कृष्ट कवि बतलाना पंडित कृष्ण-बिहारीजी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० के मत के विरुद्ध पड़ा। उनके हृदय मे यह मान देव कवि के लिये सुरक्षित था, अतः उन्होंने संवत् १९७७ में देवबिहारी नाम की स्वतंत्र पुस्तक ही निर्मित की। इसमे मिश्रजी ने देव तथा बिहारी के अनेक छंदों की तुलनात्मक समालोचना करके देव को बिहारी से श्रेष्ठ कवि ठहराने का प्रयत्न किया है, और शर्म्माजी ने जो मिश्रबंधु महाशयो के कथन का खंडन किया है उसका यथामति खंडन करके मिश्रबंधु महाशयों के मत का मंडन किया है। अपनी लेखनी की सुचालता मिश्रजी महोदय ने इस छोटे से ग्रंथ में बडी योग्यता से दिखलाई है। इसमे यद्यपि बिहारी की भी बडी प्रशंसा की गई है तथापि इससे यह अवश्य

लक्षित हो जाता है कि यह पुस्तक देव को बिहारी से श्रेष्ठ ठहराने ही के अभिप्राय से निर्मित हुई है।

इस पुस्तक में शर्म्माजी के ऊपर बिहारी के साथ अनुचित पक्षपात करने का आक्षेप किया गया है और यह कहा गया है कि और कवियों के काव्यों से तो शर्म्माजी ने बिहारी के दोहों की तुलना की है पर देव कवि के काव्यों से पक्षपात के कारण नहीं की। पर हमारी समझ में इससे देवजी की उपेक्षा लक्षित नहीं होती। शर्म्माजी ने तो बिहारी के दोहों की तुलना महात्मा सूरदासजी तथा भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी की कविताओं से भी नहीं की है।

(२२)

श्रीयुत पंडित कृष्णविहारीजी का बिहारी तथा देव में यह तारतम्यकरन श्रीयुत लाला भगवानदीनजी को, जो कि बिहारीबोधिनी नामक टीका के रचयिता हैं, बुरा लगा। उन्होंने उत्तेजित होकर श्रीशारदा नामक मासिक पत्रिका में श्रीकृष्णविहारीजी तथा मिश्रबंधु महाशयों के कथन का खंडन करने के अभिप्राय से एक लेखावली प्रकाशित की, और संवत् १९७८ मे जो अपनी बिहारीबोधिनी टीका प्रकाशित की, उसके वक्तव्य शीर्षक के नीचे भी मिश्रबधु महाशयों पर कुछ आक्षेप किए। लालाजी ने उक्त वक्तव्य में तथा श्रीयुत रामदासजी गौड़ ने बिहारीबोधिनी की भूमिका में बिहारी की बड़ी प्रशंसा की है।

लालाजी महाशय के लेखों के उत्तर में मिश्रबन्धु महाशयों ने भी कई एक लेख अभ्युदय नामक पत्र में छपवाए और 'नवरत्न' के दूसरे संस्करण मे श्रीयुत लाला भगवानदीनजी पर अमर्ष करके और भी कई दोष बिहारी की सतसई पर आरोपित कर दिए।

(२३)

संवत् १९८० में मुंशी देवीप्रसादजी (प्रीतम) के गुलदस्तए बिहारी नामक सतसई के उर्दू पद्यात्मक अनुवाद की भूमिका में

श्रीयुत भट्ट पुरुषोत्तमजी शर्म्मा तैलंग ने भी बिहारी की कविता की व्याप्त रूप से बड़ी प्रशंसा की है।

इन मुख्य महाशयों के अतिरिक्त कुछ और सज्जनों ने भी कभी कभी माधुरी इत्यादि पत्रिकाओं में—किसी ने देव और किसी ने बिहारी को श्रेष्ठ मानकर—कतिपय दोहों पर अपने अपने मत प्रकाशित किए हैं।

अब बिहारी पर लिखनेवालों के दो दल हो गए हैं। एक दल तो देव को बिहारी से अच्छा बतलाता है, और दूसरा बिहारी को देव से, और दोनों दलों के लेखक कभी कभी, अपना अपना पक्ष समर्थन करने की उमंग में विरुद्ध पक्षवाले की कविता में हठात् भी दोषारोप करने लगे हैं। खेद का विषय है कि बिहारी तथा देव ऐसे महान् कवि पक्षपात के झगड़े मे डालकर यों झकझोरे जायँ। हमारी तो यह भावना है कि यदि बिहारी तथा देवजी एक ही समय में होते तो अपनी अपनी श्रेष्ठता बढ़ाने के निमित्त एक दूसरे पर इस रीति से आक्रमण न करते।

प्रत्येक समालोचक को यह अधिकार तो अवश्य है कि वह अपने मान्य कवि को अत्युच्च आसन पर सुशोभित करे। ऐसा करने के निमित्त उसका उचित कर्तव्य यह है कि वह अपने मान्य कवि के निमित्त किसी परम उच्च स्थान का अनुसंधान करे। पर अपने मान्य कवि को किसी उच्च स्थान पर स्थापित करने के निमित्त किसी अन्य कवि को उस स्थान से च्युत करने की चेष्टा करना एक बड़ी भद्दी बात है।

---

(२५) श्री खारवेल प्रशस्ति और जैनधर्म की प्राचीनता

[लेखक—श्री काशीप्रसाद जायसवाल]

चक्रवर्ती अशोक मौर्य के शिलालेख में जैन भिक्षुओं की चर्चा (निगठ अर्थात्) निर्ग्रंथ नाम से आई है। पर वह उल्लेख मात्र है। वस्तुतः सबसे पहला जैन शिलालेख वह है जो उड़ीसा के भुवनेश्वर-समीपवर्ती खंडगिरि-उदयगिरि नामक पहाड़ की हाथी-गुंफा नामधेय गुहा पर खुदा हुआ है। यह कलिंगाधिपति चेदि-वंश-वर्द्धन महाराज खारवेल का लिखाया हुआ है। इस राजा का प्रताप एक बार चंद्रगुप्त और अशोक का सा चमका। सारे भारत-वर्ष मे, पांड्य देश के राजा से लेकर उत्तरापथ, तथा मगध से लेकर महाराष्ट्र देश तक इसकी विजय-वैजयंती फहराई। मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ ही भारतवर्ष के साम्राज्य-सिंहासन पर चढ़ने की कामना चार आदमियों को हुई। एक तो पटने के मौर्य सेनापति पुष्य-मित्र शुंगवंशीय ब्राह्मण थे जो नालदा में पैदा हुए थे। दूसरे सातवाह-नीय शातकर्णि जो दक्षिणापथ के राजा कहलाते थे, तथा महाराष्ट्र देश और अंध्र देश के बीच पश्चिम देश मे राज्य करते थे। इनका भी एक ही पुश्त का नया राज्य था, ये भी ब्राह्मण थे। दोनों ने अर्थात् सेनापति पुष्यमित्र ने और शातकर्णि सातवाहन ने दो दो बार अश्वमेध किया यह शिलालेखों से साबित है। तीसरे, श्री खारवेल कलिंगवाले को भी भारत मे चक्रवर्ती पद प्राप्त करने की लालसा हुई। मगध के राजा नंदवर्द्धन और अशोक ने कलिंग जीता था, इसका बदला भी इन्होंने चुकाया और कलिंग से नंद राजा द्वारा आई हुई जिन मूर्तियाँ वे मगध से वापस ले गए तथा मगध के तोशक-खाने से अंग मगध के रत्न प्रतिहारों समेत उठा ले गए। इसी समय दमेत्रिय नामक यवनराज, जो अफगानिस्तान और बाल्हीक का राजा था, भारत पर टूट पड़ा और मथुरा, पंचाल, साकेत को जो मगध

साम्राज्य के सूबे थे, लेता हुआ पटने तक पहुँच गया। इसने भी मौर्य सिंहासन पर बैठने का पूरा मंसूबा किया था। यह अपनी कामना में प्रायः सिद्धार्थ हो चुका था कि उधर से खारवेल झारखंड-गया से होते हुए मगध पहुँचे और उन्होंने राजगृह तथा बराबर (गोरथगिरि) के गिरिदुर्गों के चारों ओर घेरा डाला। उन्होंने गोरथगिरि सर किया। दमेत्रिय पटने की किलाबंदी तोड़ न सका और खारवेल की चढाई का हाल सुन तथा अपने खास राज्य में विद्रोह का उपद्रव उठते देख पटना, साकेत, पंचाल आदि छोड़ता हुआ* मथुरा भागा और मध्यदेश मात्र छोड़ वहाँ से निकल गया। मैदान मे खारवेल और पुष्यमित्र तथा शातकर्णि रह गए। पुष्यमित्र ने फिर से अश्वमेध मनाया। अपने लड़कों द्वारा उन्होंने वैराज्य स्थापित किया†, अर्थात् स्वयं सम्राट् न हुए, उपराजाओं या गवर्नरों द्वारा मुल्क और धर्म के नाम में स्वयं अपने को सिर्फ सेनापति कहते हुए राज्य करने लगे। यहाँ भी चढ़ाई के चार वर्ष बाद खारवेल ने अपने घर से निकलकर फिर मगध पर धावा किया और पटने मे पहुँच हाथियों सहित सुगांगप्रासाद मे डेरा डाला और मगध के प्रांतिक शासक बृहस्पतिमित्र से, जो पुष्यमित्र के आठ बेटों में मालूम होता है, अपने पैर की वदना कराई। इस महाविजय के बाद जब कि शुंग और सातवाहन तथा उत्तरापथ के यवन सब दब गए, खारवेल ने, जो राजसूय पहले ही कर चुके थे, एक नए प्रकार का पूर्त्त ठाना। उसे जैन धर्म का महाधर्मानुष्ठान कहना चाहिए।

उन्होंने भारतवर्ष भर के जैन यतियों, जैन तपस्वियों, जैन ऋषियों और पडितों को बुलाकर एक धर्मसम्मेलन किया। इसमे इन्होंने

---

* यह गर्गसंहिता, हार्थीगु फा और महाभाष्य से साबित है।

† पुष्यमित्रस्तु, सेनानीरुद्धृत्य सबृहद्रथम्।
कारयिष्यति वैराज्यं समा षष्टिं सचैव तु॥ (वायु०—किंतु दूसरे पुराणों में (यथा मत्स्य०) षट्त्रिंशति समा है)
पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः। (वायु०)

जैन आगम को अंगों में विभक्त करा पुनरुत्पादित कराया। ये अंग मौर्य काल में कलिंग देश तथा और देशों में लुप्त हो गए थे। अंग सप्तिक और तुरीय अर्थात् ११ अंग प्राकृत में, जिसमें ६४ अक्षर की वर्णमाला मानी जाती थी, सम्मेलन में संकलित किए गए। खारवेल को 'महाविजयी' की पदवी के साथ 'खेमराजा' 'भिखुराजा' 'धर्म-राजा' की पदवी अखिल भारतवर्षीय जैन-संघ ने मानो दी क्योंकि शिलालेख मे सबसे बड़ा और अंतिम चरम कार्य राजा का यही माना गया है और जैन संचयन और अंग सप्तिक तुरीय संपादन के बाद ये पदवियाँ जैन-लेखक ने उनके नाम के साथ जोड़ी हैं। लिखने-वाला भी जैन था। यह लेख के श्रीगणेश **नमो अरहतानं नमो सवसिधानं** से साबित है।

इस लेख की १४ वीं पंक्ति मे लिखा है कि राजा ने कुछ जैन साधुओं को रेशमी कपड़े और उजले कपडे नजर किए—**अरहयते पखीनसं-सितेहि कायनिसीदीयाय यापञावकेहि राजभितिनि चिन-वतानि वासासितानि** अर्थात् अर्चयते प्रक्षीणसंसृतिभ्यः कायनिषीद्यां यापज्ञापकेभ्य· राजभृतीश्चीनवस्त्राणि वासांसि सितानि।

इससे यह विदित होता है कि श्वेतांबर वस्त्र धारण करनेवाले जैन साधु, जो कदाचित् **यापज्ञापक** कहलाते थे, खारवेल के समय में अर्थात् प्राय. १७० ई० पू० (११० विक्रमाब्द पूर्व) भारत मे वर्त्तमान थे, मानो श्वेतांबर जैन शाखा के वे पूर्वरूप थे। चीन गिलगिट की एक जाति को कहते थे। इन्हे अब शीन कहते हैं। ये सदा से रेशम बनाते हैं। खारवेल ने कुमारी पर्वत पर, जहाँ पहले महावीर स्वामी या कोई दूसरे जिन उपदेश दे चुके थे क्योंकि उस पर्वत को **सुपवतविजय-चक** (सुप्रवृत्त विजयचक्र) कहा है, स्वयं कुछ दिन तपस्या, व्रत, उपासक रूप से किया और लिखा है कि **जीव-देह** का भेद उन्होंने समझा। इससे यह सिद्ध हुआ कि तपस्या, जीवदेह का दार्शनिक विचार आदि उसी समय से अथवा उसके आगे से जैन धर्म मे चला आता है।

नंदराज अर्थात् नंदवर्द्धन कलिंग से "कालिंगा जिन" ले आए थे। इससे जिन बिंबों का होना तथा जैन धर्म का पौने तीन सौ वर्ष खारवेल के भी पहले कलिंग मे प्रचलित रहना और जैनधर्म की प्राचीनता प्रतिष्ठित होती है।

खारवेल के पूर्व पुरुष का नाम महामेघवाहन और वंश का नाम ऐल चेदि वंश था। इनकी दो रानियों का नाम लेख में है—एक वजिरघरवाली थीं, वजिरघर अब वैरागढ़ (मध्यप्रदेश) कहा जाता है और दूसरी सिंहपथ या सिंहप्रस्थ की सिंधुडा नामक थीं जिनके नाम पर एक गिरिगुहाप्रासाद, जो हाथीगुंफा के पास है, उन्होने बनवाया। इसे अब रानी नौर कहते हैं। इन नामों का पता किसी जैनग्रंथ में मिले तो मुझे उसकी सूचना कृपा कर दी जावे।

---

(२६) हाड़ा वंश के विकास पर विचार

[लेखक—श्री हरिचरणसिंह चौहान]

चौहान वंश की भाँति हाड़ा वंश की उत्पत्ति के विषय में भी लोगों के पृथक् पृथक् मत पाए जाते हैं। वशभास्कर और वंश-प्रकाश आदि पुस्तकों में हाड़ा वश की उत्पत्ति भानूराज अर्थात् अस्थिपालजी से मानी गई है। मूता नैनसी की ख्यात में जो उसने संवत् १७२१ वि० के ज्येष्ठ मास में राव जगन्नाथ के वंशधर राव रामचंद्र से लिखी है, उसमें उसने सोनगरा चौहानों के विषय में लिखते हुए नाडोल के राव लाखण के ५ पुत्र—(१) बीसल (२) आसल (३) जोजल (४) जैतल और (५) बलि—लिखे हैं, जिनमें से "बीसल के (वंशज) हाडौती मे हैं" ऐसा लिखा है।

लेकिन जहाँ उसने हाडाओं की पीढ़ियाँ दी हैं वहाँ उसने राव लाखण के पाँचवे पुत्र बलि से हाड़ाओं की वंशावली चलाई है, जो इस प्रकार है—

राव लाखण नाडोल का स्वामी, बली, सोहि, महंदराव, अणहल, जिदराव, आसराव, माणकराव, (संभारण) जैतराव, अनंगराव, कुंत-सिंह, विजयपाल, हाड़ा, बाघा, और देवा बाघा का, जो परस्पर एक दूसरी के विरुद्ध हैं—इस आधार को लेकर आजकल के विद्वान् इस हाड़ा नाम को हरराज का अपभ्रंश मानकर इसी हाड़ा से हाड़ावंश का विकास मानने लग गए हैं। यह एक विचारणीय बात है।

उदयपुर-निवासी बाबू रामनारायणजी दूगड़ ने उक्त ख्याति का हिंदी अनुवाद किया है जो नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा छप चुका है, उसमें उन्होंने उक्त ख्याति के १०४ पृष्ठ पर अपनी दूसरी टिप्पणी में लिखा है कि "आसराज विक्रम की तेरहवीं शताब्दि के आरंभ में नाडौल की गद्दी पर बैठा था"। "इसका बड़ा पुत्र आल्हण

तो नाडौल की गद्दी पर बैठा और छोटे माणकराज के वंश में बूँदी के चौहान हैं।"

संवत् १४४६ वि० वाले मैनाल के लेख की वंशावली को, जिसका टाड साहब ने अपने भ्रमण-वृत्तांत में उल्लेख किया है, बाबू साहब ने अपने नोट मे उद्धृत करते समय, (उसमें) मनमाने नाम बढ़ा दिए हैं जो टाड साहब की लिखी हुई वंशावली में नहीं हैं—हम दोनों को पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ पर उद्धृत करते हैं, जिससे मालूम हो जायगा कि, एक गलत बात को सच्ची सिद्ध करने के लिये किस प्रकार प्रयत्न किया गया है।

टाड साहब द्वारा उल्लेख की हुई मैनाल के शिलालेख की वंशावली		टाड साहब के नाम से बाबू रामनारायणजी दूगड द्वारा दी हुई वंशावली
१ भँवरधन		माणकराज
२ कोलन		संभारण
३ जयपाल		जैतराव
४ देवराज		अनंगराव
५ हरराज	रितुपाल	कुंतसिंह
	६ कोल्हण	जयपाल
	७ कुंतल देदा	हरराज (हाडा)
	८ महादेव	बावा (बंगदेव)
	९ दुर्जन	देवा (देवसिंह)

बाबू साहब की उपर्युक्त दी हुई वंशावली के अनंगराव तथा

कुंतसिंह को यदि टाड साहब की वंशावली का भँवरथन तथा कोलन भी समझ लिया जाय तो भी माणकराज समारण और जैतराव तथा हर-राज और बाघा नाम टाड साहब की दी हुई मैनाल की वंशावली से इसमें अधिक हैं जो मूता नैनसी की वशावली से लेकर ही मैनाल की वंशावली मे बाबू साहब ने अपनी इच्छा से मिला दिए हैं।

मूता नैनसी माणकराव को आसराव का पहला पुत्र और आल्हण को तीसरा लिखता है जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं—परंतु बाबू रामनारायण दूगड़ जी आल्हण को प्रथम और माणकराव को छोटा पुत्र लिखते हैं, केवल यही नहीं किंतु बाबू साहब आसराव का गद्दी पर बैठना विक्रम की १३वीं शताब्दि का आरंभ लिखते हैं। १३वी शताब्दि का आरभ-काल संवत् १२०० की समाप्ति क ऊपर समझा जाता है, लेकिन आसराव के समय के तीन शिलालेख मिल चुके हैं जो संवत् ११६७, ११७२ और १२०० के हैं, जिनसे पता चलता है कि, सवत् ११६७ वि० से पहले वह नाडौल की गद्दी पर बैठ चुका था अत. १३वीं शताब्दि के प्रारभकाल मे उसका गद्दी पर बैठना मानने लायक बात नहीं है। इन्हीं लेखों मे आस-राव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम कटुकराव और छोटे पुत्र का नाम आल्हण लिखा है। आल्हण, कटुकराव के देवलोक हो जाने पर ही नाडौल की गद्दी पर बैठा हो, माणकराव का उसमे कहीं नाम-निशान भी नहीं है, तब मूताजी का लिखा हुआ माणकराव, आस-राव का पुत्र किस प्रकार माना जाय ? इस पर अभी तक किसी विद्वान् ने विचार नहीं किया। रावभाटों ने मूता नैनसी को जैसा लिखवाया वैसा लिख लिया, और उन्होंने उसको शोधा नहीं। अत: जब रावभाटों की वशावलियाँ विश्वास योग्य नहीं समझी जातीं, तब रावभाटों से ली हुई मूता नैनसी की लिखित वंशावलियाँ विश्वास योग्य मानना भूल ही है।

न तो बूँदी वंशपरंपरा मे हाड़ा या हरराज का नाम है और न मैनाल की प्रशस्ति मे ही कि जिसे टाड साहब ने अपने बनाए हुए

राजस्थान एनल्स के अमणवृत्तांत में उद्धृत किया है। फिर न मालूम आजकल के विद्वान् लोग मूता नैनसी की ख्यात की वंशावली को क्यों विश्वासयोग्य मानते हैं ?

सुर्जनचरित्र नामक संस्कृत काव्य, जिसे संवत् १६५२ विक्रमी (जो मूता नैनसी की ख्यात से ६८ वर्ष पूर्व का बना हुआ है) में पंडित रामचंद्र कवि ने राव राजा भोज के आश्रित रहकर बनाया था और जो २५-३० वर्ष पहले चुनार के किले से मिल चुका है, उसमे चाहुमान वंश की वंशावली, चाहुमानजी के वंशधर वासुदेवजी से लेकर राव राजा सुर्जनजी के पुत्र राव राजा भोज तक दी है। उसमे बूँदी नरेशों के पूर्वज माणिकराज को भारतेश्वर सम्राट् पृथ्वीराज का छोटा भाई और सोमेश्वर देव का द्वितीय पुत्र लिखा है, परंतु शिलालेखों तथा अन्य कई एक ग्रंथों में सोमेश्वर के छोटे पुत्र का नाम हरिराज मिलता है, जो पृथ्वीराज के पीछे संवत् १२५० तक अजमेर का स्वामी रहा और कुतुबुद्दीन एबक से लडकर अजमेर मे मारा गया। संभव है माणकराज हरिराज का पुत्र और पृथ्वीराज का भतीजा तथा सोमेश्वर का पौत्र हो, जिसे सुर्जनचरित्र मे पुत्र लिख दिया हो, क्योंकि उसमे जैसे वरसिंह के पुत्र वैरीसाल का नाम छूट गया है और वैरीसाल के पुत्र भारमल (सुभांडदेव) को वरसिंह का पुत्र लिख दिया है, संभव है उसी प्रकार हरिराज का नाम छोडकर माणिकराज को पृथ्वीराज का भाई और सोमेश्वरदेव का पुत्र लिख दिया हो और उसने अपने पिता हरिराज के युद्ध मे वीर-गति पाने पर अजमेर छोडकर इस प्रांत मे आकर अपना बचाव किया हो तथा इसी हरिराज से हाडा वंश प्रसिद्ध हुआ हो और यही संभव भी है, क्योंकि उस समय तक मैनाल, मोराकुरो, बिजोलया, मांडलगढ, जहाजपुर, आमलदा, लोहारी आदि समस्त प्रांत अजमेर के चौहानों के अधिकार मे थे, जहाँ उनके कितने ही शिलालेख पाए जाते हैं। अत. हरिराज से हाड़ा वंश की प्रसिद्धि मानी जाय तो वह हरिराज पृथ्वीराज का छोटा भाई और संभव है माणिकराज का

पिता हो, जिसके वीर-गति पाने पर माणिकराज ने इस प्रांत में आश्रय लिया हो, जिसके वंश में बंबावदा, बूँदी और कोटा के हाड़ा चौहान हैं जिनकी उपाधि अब तक सभरधनी और संभरेश है अत: बूँदी नरेश सांभर और अजमेर के चौहानों के वशधर हैं न कि नाडोल के चौहानों के ।

यदि मूता नैनसी की सगृहीत ख्यात की वंशावली को ही ठीक मान लिया जाय (जो वास्तव मे ठीक नहीं है) तो हाड़ा से देवसिहजी का नंबर तीसरा है और देवसिंह को महामहोपाध्याय पंडित गौरीशकर हीराचंदजी ओझा ने खेता (खेत्रसिंह) राणा के पिता राणा हमीर का समकालीन लिखा है तथा कुंभलगढ़ की संवत् १५१७ की प्रशस्ति* और संवत् १५४५ के एकलिंग-माहात्म्य† मे लिखा है कि राणा खेत्रसिंह ने हाड़ा मडल के मुंड को खडन कर हाड़ावटी देश के पति को जीता और उसके मंडल को अपने अधीन किया । इसमे मांडलगढ़ को हाडावटी का मस्तक बयान किया गया है, जिससे साबित होता है कि राणा खेत्रसिंह के समय मे हाड़ावटी देश का विस्तार बहुत बड़ा था कि जिसका मस्तक मांडलगढ़ बयान किया गया है, तब उसके हाथ पॉव और धड़ का अंदाजा किया जाय तो कम से कम तीन चार हजार वर्ग मील से तो कम मे हो ही नहीं सकता । फिर यदि सूक्ष्म विचार से विचारा जाय तो मेवाड़वालों ने खेता का बड़प्पन बखानने के लिये ही खेता से लगभग १०० वर्ष पीछे ये श्लोक गढे हैं—फिर इतने श्लोक रचने पर भी हाड़ावटी के देशपति का कहीं नाम ही नहीं है, तब ये श्लोक कल्पित ही सिद्ध होते हैं, तो भी मुहणोत नैनसी के लेखानुसार विजयपाल के पुत्र हरराज (हाड़ा) से देवसिंह (जिसे खेता के पिता हमीर का समकालीन कहा जाता है) पुत्र तक केवल चार पीढ़ी ही होती हैं । इन चार पीढ़ियों मे मूता नैनसी

---

* हाड़ावटीदेशपतीन् स जित्वा त मडल चात्मवशीचकार ।

† हाड़ामंडलमुंडखंडनधुतस्फूर्जत्कबंधोद्धरम् ।

लिखित हाड़ा के वंश का इतना विस्तार कहाँ बढ़ गया जो इतने बड़े मुल्क मे फैले हो कि जिससे इतने बड़े विस्तृत देश का नाम हाड़ावटी पड सके कि जिसका सिर मांडलगढ़ हो और खेता ने उसका मुंड खडन किया हो, परंतु इसके विरुद्ध सवत् १४४६ की मैनाल की प्रशस्ति में—जिसका अनुवाद टाड साहब ने अपने बनाए हुए राजस्थान एनल के दूसरे भाग के भ्रमण-वृत्तांत में दिया है, जो ठीक खेता के समकालीन नरेश महादेव के समय की है, और एक लिंग-माहात्म्य से ठीक १०० वर्ष पहले की है—उसमें देवराज के वंशधर महादेव ने अमीशाह का मान मर्दन कर राणा खेता की रक्षा की थी। इस स्पष्ट लेख से राणा खेता की जैसी वीरता थी उसका पता चल जाता है और उसके हाडावटो विजय करने का थोथापन भी जाहिर हो जाता है। चाहे इस समय के विद्वान् लोग सहायक नरेश को सहायता करने के कारण मातहत समझ ले, परतु वास्तव मे जो जबर्दस्त होता है वही सहायक बनता है, मातहत कभी सहायक नही बन सकता। इसके सिवाय मित्रता, रिश्तेदारी अथवा अपने जातीय सबंध के कारण भी सहायक नरेश परस्पर एक दूसरे की सहायता करने मे, और मुख्यकर विधर्मियों के विरुद्ध, अपना कर्तव्य समझते थे, जिसके बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं। उस मैनाल के लेख से तो महादव का स्वतंत्र नरेश होना ही साबित होता है, अत' कुभलगढ तथा एकलिंग-माहात्म्य के लेख पीछे से रचे जाने के कारण विश्वासयोग्य नहीं समझे जा सकते।

यह सब लिखने का मतलब यही है कि मूता नैनसी की ख्यात मे जो हाड़ाओं की वशावली दी है उसमे लिखा हुआ, माणिकराव न तो नाडोल के आसराव के समय के शिलालेखों से आसराव का पुत्र सिद्ध होता है, न टाड साहब की दी हुई मैनाल की वंशावली से ही और न बूँदी वंशपरंपरा में माणिकराव के वंशज विजयपाल के पुत्र का ही नाम हाड़ा है कि जिससे हाड़ा वश का विकास माना जाय। अत मूता नैनसी की ख्यात के लिखे अनुसार हरराज

(हाड़ा) से हाड़ा वंश का होना मान लेना भूल ही है और यदि उस समय मांडलगढ़ को हाड़ावटी का मुंड समझा जाय तो हाड़ा वंश का विकास बहुत पहले हो जाना चाहिए वह पृथ्वीराज के भाई हरिराज से मान लेने में युक्तियुक्त भी है, क्योंकि सुर्जन-चरित्र नामक काव्य में माणिकराज को पृथ्वीराज का भाई और सोमेश्वर का पुत्र लिखा है, जो संभव है सोमेश्वरदेव का पौत्र और हरराज का पुत्र हो और अजमेर छूटने पर इस प्रांत में आ बसा हो, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। अत: यदि हाड़ा वंश का विकास हरराज से ही माना जाय तो पृथ्वीराज के भाई हरिराज से ही मानना ठीक हो सकता है—मूता नैनसी की ख्यात के हाड़ा से नहीं।

---

(२७) कालिदास की प्रतिष्ठा और उनके समय तथा ग्रंथरचनाक्रमसंबंधिनी विवेचना पर एक नवीन दृष्टि*

[लेखक—श्री रामकुमार चौबे एम० ए०, एल० टी० (काशी), एम० ए० (कलकत्ता), एम० आर० ए० एस० (लंदन)]

पुष्पेषु जाती नगरेषु कांची नारीषु रंभा पुरुषेषु विष्णु ।
नदीषु गंगा नृपतौ च राम: काव्येषु माघ: कवि कालिदास: ॥

—घटखर्पर ।

"जो स्थान पुष्पों में मालती का, नगरों मे कांची तथा अंगनाओं मे रंभा का, पुरुषों में विष्णु भगवान् का, नदियों में श्रीभागीरथी का, नरेंद्रों मे महाराज रामचंद्र और काव्यों मे माघ काव्य का है, वैसा ही श्रेष्ठ स्थान कवियों मे श्रीकालिदास का है।"

पुरा कवीना गणनाप्रसंगे
कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदास: ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद्
अनामिका सार्थवती बभूव ॥

—सुभाषितरत्नावली ।

"प्राचीन कवियों की गणना के प्रसंग में श्रीकालिदास का स्थान सबसे प्रथम तो ठहरता ही है और कनिष्ठिका जिस पर से गिनना आरंभ किया जाता है, वह तो उनके भाग में आ ही जाती है परंतु आज तक उनके सदृश कवि के अभाव से दूसरा स्थान भी

---

* यह निबंध इसी विषय पर लिखे हुए एक बृहत् अप्रकाशित निबंध के कुछ अंशों का संक्षिप्त सार रूप है।—लेखक।

उनके अतिरिक्त किसी दूसरे को देना असंभव है। अतः कनिष्ठिका के समीप की उँगली, जो आज तक अनामिका (बिना नामवाली) कही जाती थी, श्रीकालिदास की गणना मात्र में प्रयुक्त होने की गौरव-प्राप्ति से अब अर्थान्वित हो जाती है।"

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥

—प्रसन्नराघव।

"जिस कविता रूप कामिनी के 'चोर' कवि केशपाश तथा 'मयूर' कवि कर्णपूर हैं, महाकवि 'भास' जिसका हास और कवि-कुलशिरोमणि 'श्रीकालिदास' जिसका विलास हैं, कवियों मे अग्रगण्य "श्रीहर्ष" जिसका उल्लास और कविवर 'बाण' जिसके हृदय मे निवास करनेवाले कामदेव हैं, वह किस मनुष्य को कौतु-कास्पद न होगी।"

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मजरीष्विव जायते।

—हर्षचरित।

"कालिदास की कविता सुदर, रसीली, मधुर तथा मनोहर मजरी के समान है उसके विकसित होने पर किसका हृदय प्रेम से द्रवी-भूत नही हो जाता।"

"Wouldst thou the earth and heaven itself in one name combine?
I name thee, Sakoontala, and all at once is said."

(Goethe)

(Translated by E B Eastwick)

"यदि भूलोक और स्वर्गलोक के अखिल सौंदर्य्य, लावण्य तथा रमणीयता को एक ही नाम से व्यक्त करना हो तो 'शकुतला' कहने ही से सब कुछ स्पष्ट हो जाता है।"

—गेटे, जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार।

"Description of the influence which Nature exercises upon the minds of lovers, tenderness in the expression of feeling and richness of creative fancy have assigned to Kalidasa his lofty place among the poets of all nations"

(Alexander von Humboldt)

"प्रकृति का जो प्रभाव प्रेमी जनों के हृदय पर पड़ता है उसको व्यक्त करने से तथा मानव-हृदय के भावों को सुकुमारता के साथ चित्रित करने से और उनकी कल्पना-शक्ति मे प्रकर्ष और बाहुल्य होने से श्री कालिदास सब जातियो के कवियों में उच्च स्थान पाने योग्य हैं।"

—एलेग्जैंडर फान हमबोलट।

"Kalidasa's Meghduta is without a rival in the whole elegiac literature of the world'

(M Hippolyte Fauche)

"कालिदास के मेघदूत काव्य के जोड का कोई भी ग्रंथ सारे संसार के करुणारसप्रधान साहित्य मे नहीं है।"

—हिपोलिट फोशे (फ्रैंच विद्वान)।

'Kalidasa is the brightest star in the firmament of Indian Artificial Poetry"

(Prof Lassen)

"श्री कालिदास भारतीय कवितारूपी गगनमंडल के अत्यंत उज्ज्वल नक्षत्र हैं।"

—सुप्रसिद्ध प्रोफेसर लासेन।

"Kalidasa's love-poetry rings as true in our ears as it did in his countrymen's ears fifteen hundred years ago I know of no poet, unless it be Shakespeare, who has given the group of heroines so individual and yet so universal, heroines as true, as tender, as brave as are Indumati, Sita, Parvati, the Yaksha's bride, and Sakoontala Poetical fluency is not rare, intellectual grasp is not very uncommon, but the combination has not been found perhaps more than a dozen times since the world

began Because Kalidasa possessed this harmonious combination, he ranks not with Anacreon, and Horace, and Shelley, but with Sophocles, Vergil, and Milton"

(Prof A W Ryder)

"कालिदास की शृंगाररस की कविता हमारे कानों मे आज भी उसी प्रकार गूँजती है जिस प्रकार वह अपने देशवासियों के कानों मे पंद्रह सौ वर्ष पहले गूँजती थी। . मुझे कविवर शेक्सपियर को छोड़कर और कोई कवि ऐसा ज्ञात नहीं है जिसने कि ऐसी नायिकाओं के समुदाय की सृष्टि की हो जो कि अपना व्यक्तित्व रखते हुए भी सर्वकालीन तथा सार्वदेशिक कही जा सके। इंदुमती, सीता, पार्वती यक्ष की प्रेमिका तथा शकुंतला, सती साध्वी, सुकुमार तथा साहसी नायिकाओं का आदर्श हैं। सब ही देशों के कवियों में कविता का प्रवाह भी मिल सकेगा और बुद्धि की प्रखरता तथा सर्वव्यापकता का भी अभाव न मिलेगा, परतु इन दोनों गुणों का एक ही कवि में समावेश संसार की सृष्टि से अब तक बारह बेर से अधिक न मिलेगा। कालिदास में इन दोनों गुणों का सम्मिश्रण होने ही से उनकी गणना एनेक्रियान, होरेस और शेली से भी बढ़कर कवियों—सोफाक्लीज, वर्जिल और मिल्टन—मे होती है।"

—प्रोफेसर ए० डब्ल्यू० राइडर।

"Le nom de Kalidasa domine la poesie Indienne et la resume brillamment Les applaudissements qui saluerent la naissance de Cakuntala Ujjayini ont apres de longs siecles eclate d'un bout du monde a l'autre, quand William Jones l'eut revelee a l'Occident Kalidasa a marque sa place dans cette pleiade etincelante ou chaque nom resume une periode de l'esprit humain Le serie de cesnoms forme l'histoire"

(Prof. Sylvain Levi in his Le Theatre Indien")

"भारतीय कवियों मे श्रीकालिदास का स्थान सबसे उच्च है और उनकी कविता सुंदर से सुंदर कविता का उज्ज्वल निष्कर्ष है।

शकुंतला नाटक की सृष्टि पर जिस आवेग तथा उत्कंठा से उसका स्वागत उज्जयिनी नगरी में हुआ होगा उसी आवेग से, अनेक शताब्दियाँ बीतने पर, विलियम जोंस द्वारा अनुवादित शकुंतला के पाश्चात्य देशों में प्रचार होने से सारे संसार में एक सिरे से दूसरे सिरे तक आज उसकी कीर्ति फैल गई है और श्री कालिदास का नाम कवियों की कीर्तिरूपी उस आकाशगंगा मे अंकित हो गया है जिसमें का प्रत्येक नाम उत्कृष्ट से उत्कृष्ट मानवी बुद्धि का सारभूत है। इन्हीं नामो की माला से इतिहास बनता है।"

—सुप्रसिद्ध फ्रेंच प्रोफेसर सिलवे लेवी के फरासीसी भाषा मे लिखित ले थियतरे इंदियें (भारतीय नाट्यशास्त्र) से अनुवादित।

विरला ही कोई साहित्यप्रेमी ऐसा होगा जिसके हृदय को इस बात के विचारमात्र ही से आघात न पहुँचता हो कि एक ओर तो पश्चिमी देश हैं जिनके सामान्य से सामान्य कवियों की प्रतिदिन की साधारण बातों तक का पता लग चुका है, दूसरी ओर हमारा देश भारतवर्ष है जिसकी रत्नगर्भा वसुंधरा को देवी वागीश्वरी के अग्रगण्य उपासक कविशिरोमणि श्रीकालिदास की जन्मदात्री होने का गौरव प्राप्त तो अवश्य है, जिनकी स्वर्णमयी अमल कीर्तिध्वजा शताब्दियों तक अनेक आक्रमणकारियों के नैष्ठुर्य को बलपूर्वक सहन करते हुए आज पंद्रह सौ वर्ष पश्चात् संसार के विद्वन्मंडल के मस्तिष्क पर पदारोपण कर दिग्दिगंत-व्यापिनी हो रही है। आमेजन और मिसिस्पी, रायन और टेम्स नदियों के तटों पर भी आज उनके रचे हुए ग्रंथों का अध्ययन उसी आनंद तथा उसी आदर के साथ होता है जिस प्रकार गंगा, सिंधु, गोदावरी और कृष्णा के किनारों पर होता रहा है। पाश्चात्य पंडितसमाज उनको संसार के उत्तमोत्तम कवियों—शेक्सपियर, गटे, डांटे, सोफाक्लीज और मिल्टन—के बराबर आसन देकर अपने को धन्य समझता है। परंतु ऐसे महान् कवि और नाट्यकार के विषय में छोटी छोटी बातों का जानना तो दूर रहा, यह भी ज्ञात नहीं है कि उन्होंने भारतवर्ष

के कौन से प्रदेश मे और किस काल में जन्म लिया कालिदास-संबंधी खोज का बहुत कुछ श्रेय पाश्चात्य विद्वानों का है। शायद ही विलायत का संस्कृतज्ञ विद्वान् ऐसा मिलेगा जिसने कालिदास के विषय मे कुछ न कुछ विचार न किया हो और उनके विषय में कुछ न कुछ न लिखा हो। भारतवर्ष के भी कुछ संस्कृत विद्वानों की दृष्टि इस ओर गई है और कालिदाससंबंधी खोज में उन्होंने भी पश्चिमी पंडितों का हाथ बँटाया है। कालिदास के विषय में जो खोज उस समय तक हुई थी उसका सारांश सुप्रसिद्ध हिंदी लेखक श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी, भूतपूर्व संपादक 'सरस्वती', कालिदास के विषय में लिखी हुई एक पुस्तक में कर चुके हैं।

कालिदास के समय के विषय मे पहले तो अनेक मत थे पर अब मुख्यतः तीन ही मत हैं।

(१) हजरत ईसा से ५७ वर्ष पूर्व, जैसा कि भारतवर्ष में प्राचीन किंवदंती है कि, कालिदास उन विक्रमादित्य के नवरत्नों मे से थे जिन्होंने विक्रमी संवत् चलाया।

(२) कालिदास अंतिम कालीन गुप्त राजाओं के समय यानी महाराज स्कंदगुप्त के पश्चात् सन् ४८० ईसवी के लगभग हुए।

(३) कालिदास पूर्व गुप्त राजाओं यानी समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त मे से किसी एक अथवा दो के समय सन् ३७५ से ४६० के बीच मे रहे हों।

नं० (२) के मत को माननेवाले भी अब बहुत नहीं हैं। भारतवर्ष मे मुख्यतः वयोवृद्ध तथा विद्यावृद्ध महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री (बंगप्रांतवासी) हैं। नं० (१) के मत को माननेवाले प्राचीन पंडित ही नहीं वरन् कुछ आधुनिक भारतीय विशेषतः महाराष्ट्र व कुछ बंगवासी विद्वान् हैं। नं० (३) मत के माननेवाले पश्चिम के अनेक धुरंधर विद्वान् तथा भारतीय विद्वान् हैं। पूर्व गुप्त राजाओं का काल भारत का स्वर्ण-युग समझा जाता है और इसी लिये अधिक विद्वान् कालिदास को पूर्व गुप्त वंशीय राजाओं का समकालीन मानते हैं।

भारतीय इतिहास के धुरंधर आचार्य विंसेंट स्मिथ महोदय ने अपनी 'अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया' में अपना मतव्य इस प्रकार प्रकाशित किया है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि कालिदास पाँचवीं शताब्दी मे, जब कि गुप्त राजाओं की शक्ति उच्चतम शिखर पर थी, हुए।" उनके मत मे वह महाराज कुमारगुप्त (४१३–४५५) के समकालीन हैं परतु वे कहते हैं कि यह भी संभव है कि वे महाराज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के अंतिम समय और महाराज कुमारगुप्त के समय मे अथवा महाराज कुमारगुप्त के समय और स्कदगुप्त के आरंभिक समय मे विद्यमान रहे हों।

प्रस्तुत लेखक ने अपने बृहत् लेख मे, जिसके कुछ अंशों का सार निम्नलिखित है, यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यह सभव है कि कालिदास की अवस्था ८० वर्ष या ७८ वर्ष मानी जाय और उनकी कविता का काल ६० वर्ष माना जाय तो सम्राट् चद्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त तीनों के संयुक्त समय मे भी उनका विद्यमान रहना असंभव नहीं। बड़े बड़े कवि सूरदास, तुलसीदास, शेख सादी, वर्ड्सवर्थ, टैनिसन कितने ऐसे हुए हैं जो दीर्घजीवी थे और ८० वर्ष पर्यंत जीवित रहे। एक बड़े कवि का ८० वर्ष जीवित रहना सभव मानकर लेखक ने उनके ग्रंथों के उन स्थलों के आधार पर, जिन पर कि पहले दृष्टि नहीं गई थी, यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उनकी कविता का काल उपर्युक्त तीनों सम्राटों के समय मे इस प्रकार विभक्त हो सकता है।

(१) चद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में	३९९ से ४१३ तक	१४ वर्ष
(२) कुमारगुप्त के समस्त राज्यकाल मे	४१३ से ४५५ तक	४२ वर्ष
(३) स्कंदगुप्त के आरंभिक समय में	४५५ से ४६० तक	५ वर्ष
	जोड़	६१ वर्ष

कालिदास ने अपने किसी भी ग्रंथ मे अपने विषय मे स्पष्ट रीति से कुछ भी नही लिखा और न अपनी समकालीन किसी घटना ही का वर्णन किया है। इसलिये सीधे प्रकार से तो उनके विषय में कुछ भी जानना असंभव है। परंतु प्रत्येक मनुष्य के मन पर देश तथा काल का प्रभाव अवश्य पड़ता है इसलिये कालिदास के शब्दों का तथा भावों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो उनके विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस लेख में इसी दृष्टि से कुछ शब्दों पर विचार किया गया है और उसी आधार पर उनके समय तथा उनके ग्रंथरचनाक्रम पर विवेचना की गई है।

शब्दों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालने से किसी विषय पर प्रकाश कैसे पड सकता है, इसके समझने के लिये निम्नलिखित दृष्टांत पर्याप्त होगा।

डाक्टर कीथ ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत ड्रामा' (पृष्ठ १४३) और स्वर्गीय हिलेब्रांट साहब ने अपनी जर्मन पुस्तक 'कालिदास' (पृष्ठ ७) मे लिखा है कि "यह प्रसिद्ध दंतकथा है कि कालिदास आरंभ मे मूर्ख थे पर 'काली' के वरदान से तत्काल पंडित हो गए जैसा कि उनके नाम कालिदास ही से व्यक्त होता है परंतु यह बात बुद्धि-सम्यक् नहीं है।" यही बात कालिदास के ग्रंथो पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालने से बहुत ही शीघ्र और निश्चित रूप से इस प्रकार सिद्ध हो सकती है। अपने अभीष्ट देव अथवा देवी का गुणगान सभी कवि अपने ग्रंथों में किया करते हैं। कालिदास तो नितांत ही 'काली' देवी के ऋणी थे। आशा तो यह थी कि उनकी चर्चा का कालिदास के ग्रंथो मे बाहुल्य होगा जैसा श्रीतुलसीदासजी ने सीता और राम की चर्चा करते हुए किया है, परंतु कालिदास की कविता मे यदि छान बीन करे जो कि एक बृहत् समुद्र है तो उसमें **एक बार भी काली का नाम तक नही आया है।** इसके विपरीत 'पार्वतीपरमेश्वरौ' का वर्णन बहुत स्थलों पर है जिस से यह सिद्ध है कि 'शिवपार्वती' उनके आराध्य देव और देवी थे।

संभवत: कोई सज्जन कहें कि 'काली' के नाम लिखने का प्रसंग ही न आया हो। उनके आगे यही बतलाना पर्याप्त होगा कि उन्होंने पार्वती, लक्ष्मी, शची, सरस्वती इत्यादि देवियों का अनेक स्थलों मे वर्णन किया है और कुमारसंभव में तो अनेक देवी देवता, बहुत से साधारण भी—जो 'तारकासुर' से पीड़ित थे—वर्णित हैं परंतु काली का वहाँ भी उल्लेख नहीं है। कालिदास ने 'महाकाल' तक का वर्णन किया है और मनोवैज्ञानिक साहचर्य्य के नियमानुसार काली का स्मरण आ जाना आवश्यक है परतु तब भी काली का नाम वे नहीं लेते। इससे सिद्ध होता है कि काली उनकी आराध्या अधिष्ठात्री नहीं थीं। सभव है वे पार्वती के ही भक्त हो अथवा सरस्वती के भी उपासक हो परंतु उपर्युक्त तर्क से यही प्रतीत होता है कि 'कालिदास' उनका नाम उनके माता-पिता ने केवल नामकरण के लिये रख दिया होगा जैसे कि प्राय. बहुत से नाम बिना किसी प्रयोजन के भी रख लिए जाते हैं, काली के वरदान से उसका कोई संबंध न होगा।

कालिदास का ठीक समय निर्णय करने के पूर्व दो सीमाएँ पहले निश्चित होनी चाहिएँ जिनके मध्य मे कालिदास का समय पड़ेगा।

नीचे की सीमा का निश्चय मदासोर लेख (सन् ६७२-७३) के आधार पर और ऐहोल लेख (सन् ६३४) के आधार पर हो जाता है। पिछले लेख मे "कविताश्रित-कालिदास-भारति-कीर्ति।" कालिदास का नाम स्पष्ट आ जाने से कोई शंका नहीं रह जाती कि उनका समय सन् ६३४ के पूर्व ही होना चाहिए।

ऊपरी सीमा का निर्णय लेखक के मतानुसार 'पुराण' शब्द पर दृष्टि डालने से हो सकता है। श्री कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के आरंभ ही मे लिखा है—

पारिपार्श्वक·—प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबंधानतिक्रम्य वर्तमानकवे कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमान:।

सूत्रधार:—अयि विवेकविश्रांतमभिहितम्। पश्य।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

पारिपार्श्वक—"सुप्रसिद्ध यशवाले भाससौमिल्लक कविपुत्रादि की रचनाओं का अतिक्रमण कर परिषद् वर्तमान कवि कालिदास की रचना का बहुमान क्यों करती है ?"

सूत्रधार—"ऐसा कहना तो विवेकसंगत नहीं है। देखिए।"

"केवल पुराण होने से वस्तु श्रेष्ठ नहीं होती और केवल नवीन होने से कोई काव्य दूषित नहीं होता।"

कालिदास अपनी रचना को वर्तमान तथा भाससौमिल्लक कविपुत्र आदिक की रचनाओं को 'पुराण' कहते हैं। किसी कथा को 'पुराण' कहने के लिये दो बातें आवश्यक हैं—(१) वह जनसमुदाय में प्रथित अथवा सुप्रसिद्ध होनी चाहिए (२) इतना समय भी उसको व्यतीत हो जाना चाहिए कि घटनाओं का साधारण रूप ही ज्ञात रह सके और विस्तृत आकार विस्मृत हो जाय। इन दोनों बातों का संमिश्रण होने से २०० या १७५ वर्ष व्यतीत होने पर ही कोई कथा पुराण कही जा सकती है।

भास किस समय में हुए यह अनिश्चित है--उनके तो ग्रंथ भी मिले हैं पर सौमिल्लक कविपुत्रादि के कोई ग्रंथ भी विद्यमान नहीं हैं। 'केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' (पहली जिल्द पृष्ठ ४८३) में लिखा है "मौर्य काल में संस्कृत काव्यों के लिखे जाने का कोई सम्यक् प्रमाण नहीं है। मौर्य काल के लगभग तीन ग्रंथ लिखे गए हैं (१) कौटिल्य का अर्थशास्त्र (२) पतंजलि का महाभाष्य (३) पाली कथावत्थु। यह कथन ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि जब पाली भाषा का आधिपत्य था तब संस्कृत काव्यों की प्रख्याति कैसे हो सकती थी ? सबसे प्राचीन संस्कृत लेख कनिष्क के समय का सन् १४४ ई० का है। वह लेख तथा रुद्रदमन का सन् १५२ ई० का लेख दोनों बहुत ही गिरी हुई संस्कृत में हैं और कालिदास की प्रौढ़ शैली और उस संस्कृत में आकाश पाताल का अंतर है।

. सन् ५७ पू० ई० में कालिदास की २५ वर्ष की आयु यदि मानी जाय तो वे अपने को वर्तमान कह सकें और भास-सौमिल्लक-कवि-पुत्रादि को पुराण कह सकें इसलिये ५७ में कालिदास की आयु के २५ वर्ष और १७५ पुराणकाल जोडने से उन नाटककारों का समय मौर्य्य काल में जा पड़ता है जो उपर्युक्त कैंब्रिज हिस्ट्री के तर्कानुसार काव्यकाल नहीं ठहरता।

शुंग काल में बौद्धों का ह्रास तथा ब्राह्मणों की अवश्य उन्नति हुई। इस वंश ने सन् १८४-७२ पूर्व ईसा राज्य किया। उन नाटककारों को उस समय मे रखने से कालिदास के जन्म और भास आदि में लगभग ६५ वर्ष ही का अतर पड़ेगा जो कि कालिदास के भास को पुराण कहने के लिये बहुत न्यून है। अत कालिदास को ५७ वर्ष पू० ईसा मानने से भासादि को 'पुराण' होने के लिये मौर्यकाल से पीछे करीब ५०० वर्ष पूर्व ईसा ले जाना पड़ेगा। और यदि ऐसा होगा तो पुराने ग्रंथों का सब रचनातिथिक्रम बदलना पड़ेगा जिसके लिये विद्वान् लोग कदाचित् ही तैयार हों।

उपर्युक्त विचार की पुष्टि एक और प्रमाण से भी हो सकती है। स्वर्गीय सर रामकृष्ण भांडारकर ने अपनी पुस्तक "शैविज्म वैष्णविज्म एटसेट्रा" मे 'स्कद' अथवा 'स्वामी कार्त्तिकेय' का विकास दिखाया है और डाक्टर डी० आर० भांडारकर ने 'कारमाइकेल लेक्चर्स आन न्यूनिस्मेटिक्स सन् १९२१' (पृष्ठ २२) मे दिखाया है कि 'महाभाष्य' में पतंजलि ने 'जीविकार्थे चापण्ये' पाणिनीय सूत्र की व्याख्या करते हुए मूर्तियों के तीन दृष्टांत दिए हैं—शिव, स्कंद, विशाख; जिससे उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि स्कंद और विशाख दोनों देवताओं की मूर्तियाँ भिन्न भिन्न थीं। कनिष्क और हुविष्क के समय में सन् १००-२०० ई० के सिक्कों पर भी चार मूर्तियाँ, स्कंद, कुमार, विशाख और महासेन भिन्न भिन्न हैं। अमर-कोश में स्वामिकार्त्तिकेय के पर्यायवाची शब्द ये हैं—

कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः ।
पार्वतीनंदनः स्कंदः सेनानीरग्निभूर्गुहः ॥
बाहुलेयस्तारकजिद् विशाखः शिखिवाहनः ।
षाण्मातुरः शक्तिधरः कुमारः क्रौंचदारणः ॥

अमरकोश के लिखे जाने की तिथि चौथी शताब्दी मानी जाती है और उपर्युक्त श्लोक में महासेन, स्कंद, कुमार और विशाख के पर्य्यायवाची शब्द भिन्न भिन्न चार चरणों मे विभक्त हैं अतः सब १७ शब्दों को पर्यायवाची मानने की अपेक्षा चारों चरणों के शब्दों को अलग अलग महासेन, स्कंद, कुमार अथवा विशाख का पर्यायवाचक मानना संगत होगा ।

कादंबरी सातवीं शताब्दी के आरंभ मे लिखी गई । उसमें दो स्थलों पर 'कार्त्तिकेयो विडंबयति कुमारशब्दम्' और 'कुमारस्तु ·· तारकोद्धरणम्' ये शब्द आए हैं जिनसे स्पष्ट है कि बाण के समय मे कुमार, कार्त्तिकेय और तारकजित् पर्यायवाची हो गए थे और अमरसिंह के समय तक, चौथी शताब्दी तक, भिन्न भिन्न ही थे और 'कार्त्तिकेय' 'महासेन' का पर्यायवाची था न कि 'कुमार' का ।

अब प्रश्न यह है कि कालिदास ने इन शब्दों को पर्यायवाची माना है अथवा भिन्न भिन्न । लेखक ने अपने बृहत् निबंध मे यह प्रमाणित किया है कि कालिदास के ग्रंथों में यह शब्द पर्यायवाची है। अतः इस कसौटी के अनुसार भी कालिदास का समय चौथी तथा आरंभिक सातवीं शताब्दी मे पड़ेगा। ३०० वर्ष के अंतर का आधा करने से भी वही समय सन् ३९९ से ४६० तक पड़ेगा जो कि लेखक ने माना है ।

ऊपर और नीचे की सीमा ठीक हो जाने के पश्चात् कालिदास का कविताकाल ६० वर्ष मानने से चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त तथा स्कंद गुप्त तीनों सम्राटों के समय में (३९९ से ४६० तक) उनका विद्यमान होना असंभव नहीं हो सकता—यह ऊपर दिखाया जा चुका है ।

कालिदास इन्हीं राजाओं के समय में हुए । इसकी पुष्टि में लेखक का मत इस प्रकार है ।

डाक्टर हार्नेले ने कालिदास के ग्रंथों में 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' तथा 'आकुमारकथोद्घातं' दिखाते हुए और इंपीरियल लाइब्रेरी के पुस्तकाध्यक्ष प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय हरिनाथ डे ने "गोप्त गोप्तमे-द्रिया..." और साहित्याचार्य्य पं० रामावतार शर्म्मा एम० ए० ने "चंद्रमसेव रात्रि:, स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः", दिखाते हुए और एस० सी० चटर्जी ने "भानु:, भास्वान्, विक्रम प्रताप" दिखाते हुए तथा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने मेघदूत मे 'तत्र स्कंदं नियतवसतिम्' दिखाते हुए यह बतलाने की चेष्टा की थी कि इन शब्दों का गुप्त राजाओं की ओर संकेत प्रतीत होता है। पहली बात तो यह है कि इन शब्दों को लेकर किसी विद्वान् ने अब तक विस्तारपूर्वक छानबीन करने तथा लेख लिखने की कृपा नहीं की। दूसरे गुप्त, गोप्ता, गोप्तरि, भानुः, भास्वान् इत्यादि शब्दों के प्रयोग मात्र से कि जब उनके अर्थ, रक्षा, रक्षक, सूर्य्य आदि ठीक ठीक बैठते हैं यह नतीजा निकालना कि उनका संकेत गुप्त राजाओं की ही ओर है सर्वतः संगत नहीं जान पड़ता।

कालिदास-लिखित सात ग्रंथ माने जाते हैं,—

(१) ऋतुसंहार, (२) मालविकाग्निमित्र, (३) कुमारसंभव, (४) विक्रमोर्वशी, (५) रघुवंश, (६) शकुंतला, (७) मेघदूत।

'उपमा कालिदासस्य', श्री कालिदास की उपमा जगद्विख्यात है। उनके ग्रंथ सैकड़ों उपमाओं से भरे पड़े हैं। उनकी उपमाएँ असाधारण तथा सारगर्भित होती हैं। स्वामी कार्त्तिकेय की उपमा कालिदास के ग्रंथों मे अनेक बार आई है और उन्होंने इसके पर्याय-वाचक बहुत से शब्द प्रयुक्त किए हैं। केवल इस एक ही उपमा के विकास पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालने से कालिदास के समय तथा ग्रंथरचना-क्रम पर जो प्रकाश पड़ सकता है उसका पूरा ब्योरा तो लेखक ने अपने बृहत् लेख में दिया है पर उसमें से दो चार बातों का सार निम्नलिखित है—

स्वामी कार्त्तिकेय की उपमा का प्रयोग कालिदास उस स्थल पर करते हैं जहाँ या तो (१) किसी की शैशव अवस्था का वर्णन करना हो अथवा (२) किसी का शौर्य्य या पराक्रम दिखाना हो या (३) स्वामी कार्त्तिकेय की कथा का प्रसंग हो। इन पर्याय-वाचक शब्दों को एकत्र करके ग्रंथानुसार विभक्त किया जाय तो निम्नलिखित क्रम प्रतीत होगा।

(क) ऋतुसंहार मे कोई भी शब्द स्वामी कार्त्तिकेय का पर्यायवाची प्रयुक्त नहीं हुआ है।

(ख) मालविकाग्निमित्र में भी स्वामी कार्त्तिकेय का कोई पर्याय-वाची शब्द प्रयुक्त नहीं है।

(ग) कुमारसंभव—

(१) सेनानी—दो बार—सर्ग ३ श्लोक १५ और सर्ग २ श्लोक ५१।

(२) सेनापत्य—एक बार—सर्ग २ श्लोक ६१।

(३) गुह—एक बार—सर्ग ५ श्लोक १४।

(घ) विक्रमोर्वशी—

(१) कुमार—चार बार—चौथे अंक की प्रवेशिका, चौथे अंक के अंत मे, फिर चौथे अंक के अंत मे, और पाँचवे अंक के श्लो० ७ मे।

(२) महासेन } एक एक बार—अंक ५ श्लोक २३।
(३) सेनापत्य }

(ङ) रघुवंश—

(१) स्कंद—दो बार—सर्ग २ श्लो० ३६ और सर्ग ७ श्लो० १।

(२) कुमार—तीन बार—सर्ग ३ श्लो० १६, सर्ग ३ श्लो० ५५ और सर्ग ५ श्लो० ३६।

(३) शरजन्मा—एक बार—सर्ग ३ श्लो० २३।

(४) गुह—एक बार—सर्ग ६ श्लो० ४।

(५) तेजो वह्निनिष्ठ्यूतम्—एक बार—सर्ग २ श्लो० ७५।

(६) नगरंध्रकृ—एक बार—सर्ग ६ श्लो० २।

(७) हरसूनु—एक बार—सर्ग ११ श्लो० ८३।

(८) षडानन—एक बार—सर्ग १४ श्लो० २२।

(९) षण्मुख—एक बार—सर्ग १७ श्लो० ६७।

(१०) सेनानी—एक बार—सर्ग २ श्लो० ३७।

(च) शकुंतला में स्वामी कार्त्तिकेय का कोई पर्यायवाचक शब्द नहीं है।

(छ) मेघदूत—

(१) स्कंद—एक बार—श्लोक ४५, पाठक का एडोशन।

(२) पावकी—एक बार—श्लो० ४६।

(३) हुतवहमुखे सभृतं तेज·—एक बार श्लो० ४५।

(४) शरवणभव, एक बार—श्लो० ४७।

उपर्युक्त स्वामी कार्त्तिकेय के पर्यायवाची शब्दों की पूरी सूची है जो कालिदास के ग्रंथों मे प्रयुक्त हुए हैं। पहले इनके विकास का अध्ययन कर फिर उन पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालना चाहिए।

(१) देखने ही से पहली बात जो दृष्टिगोचर होगी वह यह है कि तीन ग्रंथों—ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र तथा शकुंतला—में स्वामी कार्त्तिकेय के पर्यायवाची शब्दो का **नितांत अभाव** है।

(२) कुमारसभव के केवल आठ सर्ग ही कालिदास-रचित माने जाते हैं। उनमें केवल **तीन शब्द** 'सेनानी,' 'सेनापत्य' और 'गुह' चार बार आए हैं जिनमे से 'सेनानी' दुहराया हुआ है। सबसे बड़ी बात जो विचारणीय है वह यह है कि यद्यपि पुस्तक का नाम 'कुमार-संभव' है तथापि 'कुमार' शब्द जो अत्यंत ललित है और रघुवश मे कालिदास को बहुत प्रिय है ('कुमारकल्प सुषुवे कुमारम्') वह आठ सर्गों में कहीं नहीं आया है और यदि पूरा कुमारसभव भी कालिदास-रचित मान लिया जाय तो वहाँ भी उसका सर्वथा अभाव है।

(३) विक्रमोर्वशी मे भी तीन ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, 'सेना-पत्य' तो कुमारसंभव ही का है परतु 'महासेन' और 'कुमार' नए हैं। शब्दों की संख्या में तो कोई विकास नहीं है जो दोनों ग्रंथों में तीन ही हैं, परंतु दुहराने में विकास है। 'कुमार' शब्द जो कुमारसंभव मे प्रयुक्त न था, यहाँ चार बार दुहराया गया है।

(४) रघुवंश पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो वहाँ इन शब्दों का पूरा विकसित रूप पाते हैं। रघुवश में दस शब्द आए हैं—'स्कंद' 'कुमार,' 'शरजन्मा,' 'गुह,' 'वह्निनिष्ठ्यूतम् तेज.,' 'नगरंध्रक,' 'हरसूनु,' 'षडानन,' 'षण्मुख,' और 'सेनानी,' ये शब्द जहाँ आए हैं वहाँ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास यह समझते हैं कि बिना इन शब्दों के उन स्थलों पर वह सुंदरता लाना ही असंभव है जो इन शब्दों से आ गई है। देखिए राजा दिलीप और महारानी सुदक्षिणा शिशु रघु को गोद मे लिए ऐसे शोभायमान मालूम होते थे जैसे "उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयंतेन शचीपुरदरौ" या अज के जन्म का वर्णन लीजिए "ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्,' ये दस शब्द तेरह बार प्रयुक्त हुए हैं। 'स्कंद' एक बार दुहराया गया है और 'कुमार' तीन बार। दुहराए जानेवाले शब्दों की सख्या में विकास है। विक्रमोर्वशी मे एक शब्द दुहराया गया था परतु यहाँ दो शब्द दुहराए गए हैं। इस ग्रंथ में इन शब्दों का विकास सर्गक्रम से यह है। पहले सर्ग और अंतिम दो सर्गों में यह शब्द बिल्कुल नहीं है। दूसरे और तीसरे सर्ग मे इन शब्दों के प्रयोग की पराकाष्ठा है। दोनों सर्गों में तीन तीन शब्द आए हैं और वहाँ ऐसा होना है भी उचित, क्योंकि वे सर्वोत्तम सर्गों में से हैं। आगे के सर्गों मे इनके प्रयोग का जोर कम होता चला गया है। उनका प्रयोग बाकी सर्गों मे (सर्ग ५, ६, ७, ९, ११, १४, १७) केवल एक ही बार है। यहाँ पहले सात सर्ग के पीछे दो बार एक एक सर्ग का अवसान है और ११ सर्ग के पीछे दो बार दो दो सर्गों का अवसान है।

एक बात यहाँ और ध्यान देने योग्य है। इन उपमाओं का प्रयोग कालिदास उन्हीं राजाओं के लिये करते हैं जिनको वे महत्त्व की दृष्टि से देखते हैं। रघुवंश में रघुकुल के १८ छोटे छोटे राजाओं का वर्णन भी किया गया है परंतु उनके विषय में इन उपमाओं का सर्वथा अभाव है। यद्यपि श्री रामचन्द्र जी को वे भगवान् का अवतार मानते हैं, जैसा लिखा है 'रामाभिधानो हरिः' (सर्ग १३ श्लोक १) परंतु अपने काव्य की दृष्टि से कालिदास जितना महत्त्व रघु तथा अज को देते हैं उतना श्रीराम को नहीं देते; 'कुमार' 'शरजन्मा' 'वह्नि-निष्ठ्यूततेज.' तीन उपमाएँ पाँच बार रघु के लिये प्रयुक्त हैं जिनमें कुमार तीन बार आया है। 'स्कंद' और 'गुह' दो उपमाएँ केवल एक एक बार, परंतु उत्कर्ष की पराकाष्ठा के सहित, अज के लिये प्रयुक्त हैं, श्रीरामचंद्र के लिये केवल दो उपमाएँ 'हरसूनु' और 'षडानन' आई हैं जिनमें अज संबंधी उत्कर्ष नहीं है।

एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि कालिदास उपर्युक्त उपमा का एक शब्द एक ही राजा के लिये नियमित रखते हैं, दूसरे राजा के लिये उसका प्रयोग कभी नहीं करते। कुमार शब्द मे संदेह होता है। उसका निवारण यह है कि कुमार शब्द रघु के ही लिये है। अज के लिये कुमार नहीं वरन् 'कुमारकल्प' प्रयुक्त है। ईषत् समाप्तौ कल्पम् इस पाणिनीय सूत्र से कल्पम् प्रत्यय सदृश के अर्थ मे नहीं आता वरन् सदृश होते हुए किंचित् न्यूनता प्रकाश करता है और ऐसा है भी उचित। जब पिता रघु को कुमार के समान ('हरे. कुमारोपि कुमारविक्रमः') कहा गया तब अज पुत्र को 'कुमारकल्प' कुमार से कुछ न्यून कहना युक्तिसंगत ही है।

मेघदूत मे केवल १२० श्लोक हैं। उसमें चार शब्दों—'स्कंद' 'हुतवहमुखे सभृतं तेज.' 'पावकी' और 'शरवणभव'—का प्रयोग किया गया है। इतने थोड़े श्लोकों में इतने अधिक शब्दों के प्रयोग के कारण इन उपमाओं के प्रयोग की पराकाष्ठा इसी काव्य में समझनी चाहिए।

स्वामी कार्त्तिकेय के पर्यायवाची शब्दों का सामान्य विकास कालिदास के ग्रंथों मे है। संभव है कि किसी को यह आपत्ति हो कि सब शब्दों के प्रयोग सब स्थलो मे नहीं हो सकते। ऐसी शंका एक महान् कवि के विषय में वृथा है। उपमा का ठीक प्रयोग करने में कालिदास सिद्धहस्त हैं—यह देखना हो तो केवल एक अठारहवें सर्ग को देखिए। उसमें २१ राजाओं का वर्णन है और प्रत्येक राजा की उपमा उसके नाम में से निकालकर वहीं कालिदास ने बैठा दी है जैसे ध्रुवसंधि को ध्रुव की, पुष्य को पुष्य नक्षत्र की उपमा दी है। उपमाओं के प्रयोग मे उनकी कल्पना-शक्ति के चमत्कार का यही उदाहरण पर्याप्त होगा कि इंद्र के पर्यायवाचक ४६ शब्दो का कालिदास ने अपने ग्रंथों में प्रयोग किया है जो कि सब मिलाकर १३८ बार आए हैं (स्थानाभाव से उनकी सूची यहाँ नहीं दी जाती)। रघुवश के केवल तीसरे सर्ग मे ३१ स्थलो पर इंद्र के प्रयोग की आवश्यकता पडी है पर वहाँ इंद्र के पर्यायवाचक १६ शब्द प्रयुक्त हैं। अपने ग्रथों मे एक शब्द का उन्होंने ४ या ६ बार से अधिक सामान्यत प्रयोग नही किया है, बहुत साधारण शब्द 'इंद्रि' 'हरि' (इंद्र के अर्थ में) सब ग्रथों मे ९ और १२ से अधिक बार प्रयुक्त नहीं है। केवल एक शब्द 'महेंद्र' एक ही ग्रंथ विक्रमोर्वशी मे ११५ बार प्रयुक्त हुआ है और सब ग्रथो मे मिलाकर १९ बार आया है। इसके असाधारण आधिक्य के कारण पर लेखक ने अपना मत आगे दिया है।

कालिदास ने इन शब्दों का प्रयोग क्यों किया, इसको मनोविज्ञान की दृष्टि से विचारना आवश्यक है।

कालिदास ने जितना प्रयोग स्वामी कार्त्तिकेय की उपमा का किया है उतना किसी भी सस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषा के एक लेखक की रचनाओ मे न मिलेगा। एक विशेष बात ध्यान देने की यह है कि गणेशजी यद्यपि बुद्धि के अधिष्ठाता देव हैं और सभी कवियों की रचनाओं मे उनका वर्णन मिलेगा पर जैसा काली का

नाम कालिदास के ग्रंथों में कहीं नहीं है, गणेशजी के नाम का भी उनके ग्रंथों में सर्वथा अभाव है। श्री तुलसीदास जी ने उमा की स्तुति में दोनों देवताओं को लिखा है "*जय गजबदन षडाननमाता*", इससे यह तो सिद्ध होता है कि कालिदास के हृदय पर स्वामी कार्त्तिकेय का प्रभाव अवश्य विद्यमान था। गुप्त काल के पीछे कार्त्तिकेय की उपासना बहुत कम हो गई और गणेशजी की उपासना सारे भारत-वर्ष में आज तक अच्छी तरह प्रचलित है। अतः दो ही बातें हो सकती हैं—या तो एक यह संभव है कि कालिदास स्वयं कार्त्तिकेय के बड़े भक्त रहे हों परंतु शकुंतला में जहाँ शैशव तथा पराक्रम दोनों के दिखाने के लिये अनेक स्थल हैं और जो उनकी सर्वोत्तम कृति है वहाँ उसका नितांत अभाव पाया जाता है, इसलिये यह तर्कना युक्त नहीं जान पडती इसलिये दूसरी बात यही ठीक मालूम होती है कि उनके कुछ ग्रंथ, जिनमे यह उपमा विद्यमान है, उस समय लिखे गए जब कार्त्तिकेय को कुछ विशेषत्व अवश्य प्राप्त था। भारत के इतिहास मे दो ही राजा, कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त पिता पुत्र ऐसे हैं जिनके सिक्कों पर स्वामी कार्त्तिकेय तथा उनके वाहन मयूर की मूर्ति है। गुप्तकाल में और विशेषत उन दोनों के समय में कार्त्तिकेय की प्रधानता अवश्य रही। इन बातों पर विचार करने से यह निर्णय होता है कि—

(१) ऋतुसंहार या तो कालिदासकृत नहीं है, जैसा कुछ लोगो का मत है अथवा वह ऐसे समय में लिखा गया जब कि कालिदास के हृदय पर कार्त्तिकेय का प्रभाव न पड़ा था।

(२) विक्रमोर्वशी में पराक्रम के अनेक स्थल हैं पर उसमे भी कार्त्तिकेय का नितांत अभाव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह ग्रंथ भी उसी समय लिखा गया जब कालिदास के लिये कार्त्तिकेय का कोई महत्त्व न था अतः ये दोनों ग्रंथ कालिदास की कविता के प्रारंभिक काल की रचना हैं, जैसा कि बहुत विद्वान् मानते हैं। अत· ऋतुसंहार और मालविकाग्निमित्र दोनों सन् ४०० के लगभग, जब महाराज चंद्रगुप्त राज्य करते थे, लिखे गए।

(३) कुमारसंभव को बहुत से विद्वान् उपर्युक्त दोनों के पीछे का लिखा मानते हैं। यद्यपि पुस्तक के नाम में 'कुमार' है परंतु पुस्तक में 'कुमार' शब्द कहीं नहीं आया इसलिये यह नाम कालिदास ने पीछे रखा होगा जब कि उनको कुमार का प्रयोग अच्छा मालूम होता होगा। ये तीनों पुस्तकें कालिदास के प्रारंभिक कविताकाल की हैं। इनका समय भी सन् ४०० के लगभग होना चाहिए। इस पुस्तक से कार्त्तिकेय की उपमा का प्रभाव कालिदास पर पड़ना आरंभ हुआ है।

(४) विक्रमोर्वशी मे उर्वशी के पुत्र को युवराज पदवी दी गई है और कुमार और कुमारवन तथा मयूर की चर्चा बहुत है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुस्तक सन् ४११ या ४१२ के लगभग लिखी गई होगी जब कुमारगुप्त युवराज बनाए गए होंगे।

(५) रघुवंश इन उपमाओं से खचाखच भरा हुआ है। उसमे प्रथम बार 'कुमार' और 'स्कंद' दोनों शब्द साथ साथ अत्यंत उत्कृष्ट रीति से प्रयुक्त हैं। कुमार जिन श्लोकों मे प्रयुक्त हुआ है वे पहले आ चुके हैं। स्कंद का लालित्य 'स्कंदस्य मातुः पयसां रसज्ञ '(सर्ग २ श्लो० ३६) और 'स्कंदेन साक्षादिव देवसेनाम्' (सर्ग ७ श्लो० १) मे देखिए। अपने हृदय मे विचार कीजिए कि क्या कालिदास मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी, कुमारसंभव तथा शकुंतला मे जहाँ दूसरे शब्दों का आश्रय लेते हैं, 'स्कंद' से ललित शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते थे। बहुत संभव है कि रघुवंश लिखते समय 'कुमार' और 'स्कंद' दोनों के जीवित होने से कुमार और स्कंद कालिदास के लिए विशेषताप्रद हो गए हो। अतः लेखक की सम्मति मे रघुवंश उस समय लिखा गया जब कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त दोनों जीवित थे (४२०–४५५)।

(६) इसी विचारधारानुसार हम मेघदूत मे केवल स्कंद शब्द होने से और उनका वाहन मयूर (श्लो० ४५–४६) भी होने से यह समझते हैं कि वह स्कंदगुप्त के समय में सन् ४५५–४६० में लिखा गया होगा।

(७) शकुंतला में, जो कालिदास की सर्वोत्तम कृति है, इन शब्दों का नितांत अभाव होना एक बड़ी कठिनाई थी पर उसका निवारण इस प्रकार हो जाता है। वहाँ आवश्यकता होने पर भी, इन राजाओं की तरफ कोई संकेत न हो, इसलिये जानते हुए कालिदास ने इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया। और ऐसा संभव भी है। शेक्सपियर का महारानी तथा छठे जेम्स से घनिष्ठ संबंध था। वे उनके दर्बार मे नाटक करते थे। उनके चार बड़े नाटक हैं 'मेकबेथ, ओथेलो, किंग लियर और हैम्लेट।' स्पष्ट रीति से तो उन्होंने कही अपनी महारानी तथा सम्राट् का नाम नहीं लिखा परंतु पहले दोनों ग्रंथों मे श्लेष मे कई जगह साफ सकत कर दिया है जैसा विद्वानों ने लिखा है। देखिए मेकबेथ (अंक ४ दृश्य १ पंक्ति १२०-१२१) और ओथेलो (But our heraldry is hand not hearts) परतु किंग लियर और हैम्लेट जो उनके सर्वोत्तम नाटक हैं उनमे किंचिन्मात्र भी महारानी या सम्राट् की ओर संकेत नहीं है। अत: यही कालिदास ने किया है ऐसा प्रतीत होता है। लेख के अधिक बड़े हो जाने से इतने ही पर समाप्ति उचित जान पडती है। इन प्रमाणों की पुष्टि बृहत् लेख मे एक एक ग्रथ को लेकर बहुत से दूसरे प्रमाणों से की गई है। उदाहरणार्थ महेंद्र शब्द का असाधारण आधिक्य एक ही पुस्तक विक्रमोर्वशी में १५ बार है इस पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालिए। इतना अधिक प्रयोग कालिदास के नियम के सर्वथा विरुद्ध है। प्रश्न यह है कि उन्होंने अपना नियम क्यों तोड़ा ?

कुमारगुप्त का पूरा नाम कुमारगुप्त महेंद्र आदित्य था जैसे उसके पिता का नाम चंद्रगुप्त विक्रमादित्य था। कुमारगुप्त के सिक्कों की कोई पुस्तक उठाइए। उसके अनेक प्रकार के सिक्के मिलेगे परतु उसके सिक्को पर 'महेंद्र सिंहो जयति' या 'श्रीमहेंद्र' या 'महेंद्रादित्य' लिखा हुआ प्राय: मिलता है। 'विक्रमोर्वशी' में उर्वशीकुमार के युवराज पदवी धारण करने मे कुमारगुप्त के यौवराज्यप्राप्ति की ओर सकेत होना महेंद्र शब्द के विक्रमोर्वशी मे असाधारण आधिक्य से प्रतीत होता है।

---

(२८) स्त्रीशिक्षा

प्राचीन तथा अर्वाचीन शिक्षा-पद्धति का भेद

[लेखिका—श्रीमती अन्नपूर्णा देवी जी]

भारतवर्ष में वैदिक काल ही से शिक्षा की महिमा गाई जाती है, और वेद वेदांग इत्यादि ग्रंथों के प्रमाणों से यही विदित होता है कि उस समय स्त्री तथा पुरुषों को समान शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा का क्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण है। पुरातन काल से लेकर आज तक बहुत से विद्वानों ने अपनी अपनी सम्मति इस विषय पर प्रकट की है और इस विषय में नित्य नए नए आविष्कार होते जा रहे हैं। नवीन प्रणाली के शिक्षकों का यही मत है कि जैसी शिक्षा प्रदान करनी चाहिए वैसी अभी तक पाठशालाओं मे नहीं दी जाती। परंतु मेरा विषय प्राचीन तथा अर्वाचीन शिक्षा-पद्धति के भेद का कुछ वर्णन करना है। यह विषय बहुत ही विस्तीर्ण है और इसके भिन्न भिन्न भागों पर विद्वानों ने कितनी ही विचारपूर्ण पुस्तकों की रचना की है। यहाँ मैं यथाशक्ति सूक्ष्म रूप से हर एक प्रणाली का वर्णन करूँगी।

मैं प्राचीन शिक्षा-पद्धति के विषय पर विचार करने के लिये इतिहास की सहायता लूँगी क्योंकि भविष्य के कामों में सम्मति स्थिर करने के लिये इतिहास प्रधान सहायक है। ऐतिहासिक घटनाएँ ही विचारों को पुष्ट करती हैं। इसलिये प्राचीन शिक्षा के विषय में जहाँ तक प्राचीन से प्राचीन घटनाएँ मुझे मिलेंगी उन्हीं से मैं संक्षिप्त प्रमाण दूँगी।

सबसे प्रथम मैंने अपने विषय को तीन मुख्य कालों मे विभाजित कर दिया है। (१) प्राचीन काल (२) मध्यम काल, जिस समय महात्मा तुलसीदासजी का जन्म हुआ था और भारत पर उनके पूर्व मुसलमानी राजाओं का राज्य था. (३) अर्वाचीन काल अथवा बीसवीं शताब्दी।

प्राचीन काल के भी तीन ऐतिहासिक विभाग हो सकते हैं। यथा (१) वैदिक और ऐतिहासिक काल (२) पौराणिक काल (३) बौद्ध काल।

मेरा मुख्य विषय शिक्षा-प्रणाली है परंतु इस विषय पर विचार करने के प्रथम देश की सामाजिक दशा की ओर दृष्टि डालनी होगी क्योंकि समाज तथा शिक्षा का परस्पर संबंध है। यदि किसी देश के स्त्री तथा पुरुष शिक्षित हैं तो वह देश अवश्य ही सामाजिक उन्नति करेगा। इसलिये सर्वप्रथम मैं यही प्रमाण दिखलाऊँगी कि प्राचीन काल में भारतवर्ष की सामाजिक दशा क्या थी। इससे स्वयं ही विदित हो जायगा कि उस समय शिक्षा किस प्रकार की दी जाती थी। रमेशचंद्र दत्त ने अपने 'प्राचीन भारत की सभ्यता के इतिहास' में लिखा है कि वैदिक काल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से किसी प्रकार कम न था। जिस प्रकार बालक यज्ञोपवीत के पश्चात् विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल मे प्रवेश करते थे उसी प्रकार बालिकाएँ भी विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल मे जातीं और ब्रह्मचारिणी होने का अधिकार रखती थीं। एक स्थान पर तो यह भी मिलता है कि जिस प्रकार बालकों का यज्ञोपवीत संस्कार होता था उसी प्रकार कन्याओं का भी होता था। वैदिक काल में उन स्त्रियों का वर्णन भी मिलता है जो स्वयं ऋषि थीं और पुरुषों की नाईं सूक्त बनाती तथा हवन करती थीं। उस समय की स्त्रियों को सामाजिक उन्नति मे बाधा डालनेवाले बंधन नहीं थे और न उनको अशिक्षिता रखने की प्रथा ही थी। जिस प्रकार बालकों के गुरुकुल होते थे उसी प्रकार कन्याओं के लिये भी थे। हम लोगों को कुछ ऐसी स्त्रियों के नाम भी मिलते हैं जो धार्मिक सूक्त रचती थीं और ऋग्वेद की ऋषि थीं। उस समय कोई धर्म-संबंधी आवश्यकता भी न थी कि प्रत्येक कन्या का विवाह हो। इसके विपरीत हमे ऐसी अविवाहित कन्याओं के भी वर्णन मिलते हैं जिन्होने आजन्म गुरुकुलों में रहकर दूसरों को शिक्षा प्रदान की है।

प्राचीन काल में बालविवाह तथा पर्दे की कुरीति का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता परंतु इसके विपरीत ये प्रमाण मिलते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषों की सभाओं में जाती तथा उनसे शास्त्रार्थ भी करती थीं। याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी की कथा से प्रतीत होता है कि स्त्रियों को ब्रह्मज्ञानी होने का भी पूर्ण अधिकार था। क्या महाराज जनक की सभा में जो गार्गी ने याज्ञवल्क्य मुनि से प्रश्न किए थे वे इस बात की पुष्टि नहीं करते कि स्त्रियाँ बडी बडी सभाओं में पुरुषों से प्रश्न कर सकती थीं ?

वैदिक तथा ऐतिहासिक काल मे स्त्रियों को सब प्रकार की विद्या सीखने का पूर्ण अधिकार था। महाराज मनु एक स्थान पर कहते हैं कि स्त्री नाना प्रकार के शिक्षण ग्रहण कर सकती है। इस बात की पुष्टि एक ऐतिहासिक घटना द्वारा होती है। जिस समय महाराज दशरथ युद्ध पर गए थे उस समय कैकेयी ही ने अपने बुद्धिबल से रथ को ठीक किया था। इन सब सामाजिक प्रमाणो से यही प्रकट होता है कि इन कालों मे स्त्रियों तथा पुरुषो को विद्या सबंधी समान अधिकार थे।

उस समय बालक तथा बालिकाओं को गुरुकुल मे शिक्षा दी जाती थी। वे गुरुकुल नगर से दूर ऐसे स्थानों में निर्माण किए जाते थे जहाँ बालक तथा बालिकाएँ प्रकृति देवी की गोद मे खेलते हुए सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें। गुरुकुलों के संचालक महान् ऋषि तथा ऋषि-पत्नियाँ होती थीं। उस समय अध्यापक धन के लिये विद्या की बिक्री नहीं करते थे। गुरुकुल राजाओं तथा धनवानों की सहायता से चलते थे। जिस प्रकार बालक अपने माता पिता के साथ प्रेम से रहते हैं उसी प्रकार गुरुकुलों में भी अध्यापक तथा उनकी पत्नियों के साथ रहते थे। गुरुकुल एक बड़े कुटुंब के समान होता था जिसमे बालक की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था, न कि केवल मानसिक शिक्षा की ओर। उस समय बालक को ताड़ना देने की भी प्रथा

थी और विद्यार्थी के चरित्र को सब प्रकार उत्तम बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। जब बालक की शिक्षा पूर्ण हो जाती थी तब वह गुरुदक्षिणा देकर अपने लालायित संबंधियों के पास लौट जाता था।

इन बड़े बड़े गुरुकुल तथा परिषदों के अतिरिक्त एक एक शिक्षक भी छोटी छोटी पाठशालाएँ स्थापित करते थे जिनकी तुलना आज-कल के प्राइवेट स्कूलों से दी जा सकती है, और इनमें बहुधा देश के भिन्न भिन्न भागों से विद्यार्थी एकत्र होते थे। जो विद्वान् वृद्धावस्था में वानप्रस्थ तथा संन्यास लेकर वनों तथा नदियों के किनारे एकांत स्थान में रहते थे उनके पास भी बालक शिक्षा ग्रहण करने के लिये एकत्र हो जाते थे। उस समय अधिक शिक्षा मौखिक दी जाती थी जिसको शिष्य गुरु के पश्चात् उच्चारण करते हुए कंठस्थ करते थे जिससे वेदों की शुद्धता बनी रहे। पुस्तकों की प्राप्ति के सरल साधन भी न थे। वेद, अष्टाध्यायी, महाभाष्य इत्यादि को कंठस्थ करने की रीति प्रचलित थी। इसी प्रकार आर्य लोगों द्वारा बहुत काल तक विद्या की उन्नति और वेदों की रक्षा हुई है। इन लोगों मे जितना विद्या तथा ज्ञान का मान होता था उतना किसी दूसरी जाति में प्राचीन तथा नवीन समय में भी नहीं हुआ। शिक्षा की उन्नति की यह स्थिति वैदिक तथा ऐतिहासिक काल में थी। काव्यकाल में भी स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी और उस समय भी उनमें विद्या की उन्नति उच्च कोटि की थी।

उस काल मे बालक तथा बालिकाओं को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा दी जाती थी। मनु महाराज ने कहा है कि राजा को योग्य है कि सब कन्या तथा बालकों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य मे रखकर विद्वान् बनावे। राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् बालक तथा बालिका किसी के घर में न रहने पावें परंतु आचार्यकुल मे रहे। इससे पूर्णतया विदित हो जाता है कि देश के राजा का कर्तव्य था कि अपनी प्रजा को विद्यादान करावे।

अब मैं वैदिक तथा ऐतिहासिक काल की शिक्षापद्धति के विषय में अधिक उल्लेख न करूँगी, क्योंकि उक्त प्रमाणों से यह स्पष्टतया विदित हो गया कि उस काल में स्त्री तथा पुरुषों का शिक्षासंबंधी समान पद था और दोनों ही विद्या रूपी निधि के समान अधिकारी थे। इन कालों में अर्थात् वेदों में अविद्या की निंदा बहुत मिलती है और विद्यादान ही सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है।

पौराणिक काल में भी शिक्षा की उन्नति कुछ कम न थी। उस समय भी बालक तथा बालिकाओं को समान शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था। स्त्रियाँ गानविद्या, चित्रकारी इत्यादि के साथ-साथ संस्कृत भी पढ़ती थीं जैसा कि पुरुष बहुधा और विद्याओं के साथ साथ गानविद्या सीखते थे। उस समय लिपि का प्रचार अधिक हो गया था इस कारण मुखस्थ शिक्षा न्यून होने लगी थी तो भी कंठस्थ करने की प्रथा पूर्वकाल के समान प्रचलित थी और मनोरमा, सारस्वत, कौमुदी इत्यादि वेदों के साथ साथ मुखस्थ कराए जाते थे। वेदों के अर्थज्ञान की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। चित्रकारी की विद्या के पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों के जानने का उल्लेख मिलता है।

पौराणिक काल में भी ऐसी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो पुरुषों के समान विदुषी थीं। दिग्विजयी शंकराचार्य को मंडन मिश्र की स्त्री ही ने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। दूसरा उदाहरण महाकवि कालिदास की स्त्री विद्योत्तमा का मिलता है जिससे सब विद्वानों ने हार मानी थी। इन प्रमाणों से भी यही प्रगट होता है कि उस काल मे भी दोनों को शिक्षा उच्च श्रेणी की दी जाती थी।

बौद्ध काल की ओर दृष्टि डालने से भी यही प्रगट होता है कि उस समय भी बालक तथा बालिका को समान धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। जिस प्रकार बौद्ध धर्म के भिक्षुक अपना जीवन संघों में रहकर व्यतीत करते थे उसी प्रकार स्त्रियों को भी भिक्षुणी होने

का पूर्ण अधिकार था। वे भी भिक्षुकों की नाईं संघों में रहकर अपना जीवन व्यतीत करती हुईं बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त करती थीं। इसके उदाहरण भी मिलते हैं। जिस समय महात्मा गौतम बुद्ध अपने पिता के राज्य कपिलवस्तु मे गए उस समय पुरुषों के साथ साथ उनकी विमाता प्रजापति गौतमी तथा उनकी पत्नी यशोधरा ने भी गौतम के स्थापित किए हुए मार्ग को ग्रहण करने का अनुरोध किया था। उस समय गौतम बुद्ध के शिष्य आनंद ने उनसे पूछा, "हे प्रभु, क्या स्त्रियाँ सब गृहस्थ धर्म को छोड़ दें और धर्म के परिवर्तन अथवा मुमुक्षु होने का फल प्राप्त कर सकें ?" उस पर महात्मा बुद्ध ने यही उत्तर दिया, "हे आनंद, वे सब योग्य हैं।" उसके पश्चात् स्त्रियाँ भिक्षुओं के संप्रदाय मे ले ली गईं और वे भी संघों में रहने लगीं। चाणक्य-नीति मे लिखा है कि वे माता पिता जिन्होंने अपनी संतान को शिक्षा न दी, उनके पूर्ण वैरी हैं। दूसरा उदाहरण महाराज अशोक का मिलता है जिन्होंने अपने पुत्र महिंद तथा कन्या सहमिता को लका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने को भेजा। वहाँ उन्होंने अध्ययन के लिये एक बहुत बड़ी गुफा खुदवाई। इन प्रमाणों से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि उस काल मे भी स्त्री तथा पुरुषों का शिक्षा-संबंधी समान पद था और उनकी शिक्षा मे भी कोई भिन्नता न थी।

ईसा मसीह के जन्म के पूर्व ही बौद्धो ने भारतवर्ष मे बड़े बड़े विहार तथा विश्वविद्यालयो (युनिवर्सिटीज) की भी स्थापना की जिनके नाम नालंद और तक्षशिला विश्वविद्यालय थे। उनकी स्थापना आजकल की युरोपियन युनिवर्सिटीज् से कहीं पूर्व हुई थी। वहाँ हजारों विद्यार्थी साथ रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे।

अब मैं प्राचीन काल की शिक्षापद्धति के विषय मे अधिक न कहकर मध्य काल की ओर ध्यान आकर्षित करूँगी क्योंकि प्राचीन काल के शिक्षा संबंधी विषय में विद्वानो ने बृहद् ग्रंथ रचे हैं जो विद्वानों से छिपे नहीं हैं। इतिहास के मध्य काल से

मेरा तात्पर्य उस काल से है जिस समय भारतवर्ष पर मुगलों का आक्रमण तथा राज्य स्थापित हुआ। उसी काल में महाकवि तुलसीदासजी का जन्म हुआ था। यह बात सब को विदित है कि यवनों के भीषण अत्याचार ही के कारण उस समय देश की सामाजिक दशा शोचनीय हो गई और पर्दा बालविवाह इत्यादि कुरीतियों का पदार्पण समाज में हुआ। इतिहास में उस समय कहीं भी गुरुकुलों का उल्लेख नहीं मिलता। उस काल मे पुरुषों की दृष्टि में स्त्रियों का पद निकृष्ट हो गया। महात्मा तुलसीदासजी ने रामायण में एक स्थान पर लिखा है "ढोल, गँवार, सूद्र, पसु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।" इसमें तुलसीदासजी का कोई दोष नहीं है क्योंकि उस समय समाज की दशा ही ऐसी थी और उनके ऊपर उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। यवनो के अत्याचार के कारण शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन होने लगा और माता पिता स्वतन्त्रतापूर्वक बालक तथा बालिकाओं को गुरुकुलों में शिक्षा न दे सकते थे और तभी से गुरुकुल-प्रणाली का भी पतन हुआ।

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली पर विवेचन करने से यही विदित होता है कि बालक तथा बालिकाओं की शिक्षा उपनयन संस्कार के पश्चात् अथवा आठ वर्ष के पश्चात् आरंभ होती थी और अधिकांश शिक्षा कंठस्थ दी जाती थी। यद्यपि पुरातन काल में जन्म के पूर्व ही से शिक्षा संबंधी संस्कार बालक के हृदय पर अंकित करने का नियम रहा है तथापि आठ वर्ष के पहले की समस्त शिक्षा गृह ही मे माता पिता द्वारा होती थी। वर्तमान काल मे पुरातन प्रणाली का लोप होने पर भी आर्य समाज ने गुरुकुल इत्यादि की स्थापना करने का उद्योग किया है।

अर्वाचीन प्रणाली—आजकल विलायत तथा अमेरिका आदि देशों में नित्य नए शिक्षासबंधी अनुसंधान तथा आविष्कार हो रहे हैं और विद्वान् शिक्षक नवीन पुस्तकें हर एक प्रणाली पर रच रहे हैं। उनकी सम्मति है कि बालक को दो या ढाई वर्ष की आयु से ही उचित शिक्षा देनी चाहिए।

लगभग अर्ध शताब्दी के पूर्व लोगों का यह विचार था कि बच्चे का मस्तिष्क एक मिट्टी के लोंदे के समान है और जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से घड़े, खिलौने इत्यादि जो चाहे बना लेता है उसी प्रकार माता, पिता तथा अध्यापक भी अपने इच्छानुसार बच्चे के मस्तिष्क को मोड़ सकते हैं। परंतु आधुनिक अनुभवी विद्वान् शिक्षकों की सम्मति इसके विपरीत है। वे कहते हैं कि बच्चे की मानसिक शक्तियाँ उसके पूर्व जन्म के संस्कारों पर निर्भर हैं और वह प्रवृत्तियों के सहित उत्पन्न होता है। हमारे यहाँ अब यह सिद्धांत केवल नाम मात्र ही रह गया है। अध्यापक संसार में एक अनुभवी भाई के सदृश है और उसका केवल इतना ही कर्तव्य है कि बालक को उसकी शक्तियों का विकास करने में सहायता दे। इसी उद्देश्य पर मनन करते हुए छोटे छोटे बच्चों के लिये कई शिक्षा-प्रणालियों का आविष्कार हुआ है। अब भारतवर्ष में भी किसी किसी पाठ-शाला ने उन प्रणालियों पर ध्यान देना आरम्भ किया है और क्रमशः सफलता भी प्राप्त हुई है। उन मुख्य प्रणालियों के नाम ये हैं—(१) किंडरगार्टन अथवा फ्रोबल प्रणाली, (२) मांटिसरी प्रणाली, (३) डेल्टन प्रणाली। तीनों प्रणालियों का उद्देश्य यही है कि बालक तथा बालिकाओं की शक्ति को जागृत करे और उनको इस प्रकार की शिक्षा दें जिसमे भविष्य मे वे अपना व्यक्तित्व न खोवे। इन प्रणालियों द्वारा रटने के बोझ तथा ताड़न की रीति का विरोध किया जाता है।

हम लोगों की साधारण पाठशालाओं मे बालकों को एक साथ समूह मे शिक्षा दी जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी व्यक्तिता को जागृत करने के बदले उसको नष्ट कर देते हैं और बड़े होकर, कुछ प्रतिभाशालियों को छोड़कर, किसी भी कार्य में श्रेष्ठता नहीं पाते। वर्तमान शिक्षाविषयक विद्वानों की यह सम्मति है कि यदि किसी देश की शिक्षा की ओर उचित ध्यान दिया जाय तो जेल, न्यायालय इत्यादि की कठिन समस्याएँ आपही

सुलझ जायँगी। इन्हीं सब उद्देश्यों को मनन करते हुए विद्वान् तथा विदुषियों ने नाना प्रकार के शिक्षासंबंधी नए नए आविष्कार किए हैं और वे अधिकांश सफलीभूत भी हुए हैं।

अब मैं इन तीनों प्रणालियों का वर्णन अलग अलग सूक्ष्म रीति से करूँगी क्योंकि प्रत्येक प्रणाली बहुत ही विस्तृत है और जब तक उसको प्रयोग करते समय अवलोकन न किया जाय तब तक पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

किंडर-गार्टन अथवा फ़्रोबल प्रणाली—शिक्षा की नवीन प्रणालियों के अन्वेषणों में सबसे प्रथम इस प्रणाली का आविष्कार एक जर्मन विद्वान् मि० फ्रेडरिक फ़्रोबल द्वारा हुआ। यह प्रणाली तीन से लेकर सात वर्ष के बच्चों के लिये है। उनका मत था कि बालक का जीवन अलग अलग भागों में विभक्त है और उनका परस्पर संबंध है, इसलिये यदि आप उसे श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं तो बाल्यकाल ही से उसे उचित शिक्षा देनी चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि बालक की प्रारंभिक शिक्षा उसके माता पिता द्वारा ही होनी चाहिए, परंतु उनकी सम्मति थी कि बच्चों को पूर्णतया शिक्षा विदुषी माता भी नहीं दे सकती, क्योंकि बच्चे को उसी के समकालीन बच्चों के साथ रखकर समाज के लिये तैयार करना है और उसी के उपयुक्त उसे शिक्षा देनी चाहिए।

बच्चे का विशेष लक्षण चंचलता है जैसे शारीरिक चंचलता जिसमें अंगों को हिलाने डुलाने मे उसे प्रसन्नता होती है; और दूसरी मानसिक चंचलता जिसमे वह प्रत्येक वस्तु को स्पर्श करना चाहता है और उसी के द्वारा उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है। बच्चा केवल वस्तु को स्पर्श करने ही से संतुष्ट नहीं होता परंतु वस्तु को तोड़कर उसकी सूरत बदलने में भी उसे विशेष आनंद आता है। इस कार्य से यह प्रगट होता है कि वह वस्तु को एक स्थिति में नहीं रखना चाहता। इसी अवस्था में बच्चे में मित्रता, प्रेम, चरित्रगठन इत्यादि की उत्पत्ति होती है। इस कारण इसी अवस्था में ऐसी शिक्षा

देनी चाहिए जिससे वे गुण दृढ़ तथा उत्तम हो सकें। इस अवस्था में उसे बेडोर का नहीं छोड़ देना चाहिए परंतु उसे खेल ही के द्वारा शिक्षा देनी उचित है। इसलिये फ्रोबल साहब ने ऐसे खेलों का निर्माण किया जिसमें खेल के साथ ही साथ बच्चे को शिक्षा मिले। इस प्रणाली मे सब कार्य बच्चे साथ साथ खेल ही द्वारा करते हैं और उनकी व्यक्तिता पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। वे बहुत से ऐसे छोटे छोटे खेल खेलते हैं जिनमें मनोरंजन के साथ साथ वे छोटी छोटी कविताएँ भी गाते तथा सीखते हैं। मिट्टी, कागज इत्यादि से खिलौने बनाने मे उन्हें विशेष आनंद आता है।

जिस प्रकार माता पिता तथा परिवार का अधिकार बच्चे पर होता है उसी प्रकार समाज का भी उस पर स्वत्व है इस कारण बचपन ही से बालक को कुछ घंटे अपने समवयसी बच्चों के साथ खेलकर व्यवहार करना सीखना चाहिए। यह विचारकर उन्होंने ऐसी कक्षाओं की स्थापना की, और उनका नाम पाठशाला न रख किंडर-गार्टन रक्खा जिसके अर्थ बच्चों का 'उद्यान' है। जिस प्रकार किसी उद्यान में निपुण माली की सहायता से एक कोमल पैाधा बढता है उसी प्रकार एक निपुण अध्यापिका की सहायता से मानव पैाधे की रक्षा इस बच्चों के उद्यान में होती है। मैंने यहाँ 'अध्यापिका' शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि स्वभाव ही से स्त्रियों को बच्चों के ज्ञान का अनुभव प्राप्त है और वे ही बाल्यकाल में बच्चों को यथोचित तथा उपयुक्त शिक्षा दे सकती हैं। मैंने किंडर-गार्टन प्रणाली के मुख्य उद्देश्यों को ही यहाँ कहा है क्योंकि विषय बहुत ही गूढ है और बहुत विस्तार के साथ कहा जा सकता है।

मांटिसरी प्रणाली—इस प्रणाली का आविष्कार इटली की एक सुप्रसिद्ध विदुषी डाक्टर मांटिसेरी ने १८९८ ईसवी में किया था। वे एक अस्पताल में डाक्टर थीं और केवल ऐसे बच्चों की शुश्रूषा किया करती थीं जिनमें मानसिक विकार होता था। उन्होंने कुछ ऐसे

यंत्र बनाए जिनके प्रयोग से उन बच्चों में मानसिक परिवर्तन होने लगा। यह देख उन्होंने विचार किया कि जब ये बालक इस प्रणाली से लाभ उठा सकते हैं तो साधारण बच्चों पर इसका प्रयोग क्यों न किया जाय? पश्चात् उन्होंने इस वैज्ञानिक प्रणाली की उन्नति में तन, मन अर्पण किया और छोटे बच्चों की एक पाठशाला भी खोली। मांटिसरी प्रणाली दो वर्ष की अवस्था से लेकर आठ या दस वर्ष के बालक और बालिका के लिये है। डाक्टर मांटिसरी का मत यह है कि बालक एक व्यक्ति है और जिस प्रकार सात वर्ष के पश्चात् उसकी मानसिक शक्तियों का विकास होता है उसी प्रकार दो से सात वर्ष के भीतर उसकी चेतना शक्ति का विकास होता है। इसी प्रणाली द्वारा बालक की स्पर्श शक्ति, घ्राण शक्ति, रसना शक्ति, श्रवण शक्ति तथा दर्शन शक्ति के विकास में सहायता दी जाती है जिसमे बड़े होने पर बालक की सब शक्तियाँ सूक्ष्मदर्शी तथा निर्मल हों। इन शक्तियों के विकास के लिये भिन्न भिन्न सामग्रियाँ हैं जिनसे मनोविनोद के साथ साथ उसकी शक्तियों का विकास होता है। इस अवस्था मे बालक की मानसिक शक्ति की उतनी जागृति नहीं होती जितनी चेतना-शक्ति की और यदि उसे एक पेंसिल देकर लिखवाया जाय तो जितनी कठिनाई उसे होगी उसका अनुभव हम नहीं कर सकते। इसी अवस्था मे बालक की स्पर्श शक्ति की जागृति होती है और यही कारण है कि वह सब वस्तुओं को स्पर्श करने का प्रयत्न करता है परन्तु घर के बड़े लोग उसकी इस शक्ति की अवहेलना करते हुए सर्वदा यही कहते रहते हैं "यह मत छूओ, वह मत छूओ।" ऐसा सुनते सुनते बच्चा अपनी स्वाभाविकता को खो देता है।

इन शक्तियों के शिक्षण के लिये सदा बालक के चारों ओर सुंदर तथा उसकी शारीरिक शक्तियों के अनुसार वस्तुएँ रखनी चाहिएँ जिसमें वह अपने को उस गृह का स्वामी समझे और वस्तुओं को सुगमता से उठाकर उनका प्रयोग कर सके। पाठ-

शाला में ऐसी छोटी छोटी चौकियाँ, दरियाँ इत्यादि सामग्रियाँ होनी चाहिएँ जिनको बालक बिना किसी शारीरिक कठिनाई के इधर उधर कर सके। ऐसा करने से बालक उन वस्तुओं का ठीक तथा सुंदर उपयोग करना सीखेगा। इस प्रकार वह अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ उनको स्वाभाविकता से प्रगट कर सकेगा। इसी विचार पर ध्यान देते हुए उन्होंने ऐसे यंत्र बनाए जिनका प्रयोग बालक सुगमता से कर सके और खेल के साथ साथ शिक्षा प्राप्त करे जिसमें बड़ा होकर अपने विचारों तथा शक्तियों को प्रगट करते हुए अपना शिक्षण अपने ही हाथों में ले लेवे। शिक्षक का कर्तव्य तो केवल इतना ही है कि बालक को अनुकूल सामग्री तथा स्थान देकर उसकी शक्ति के विकास का निरीक्षण करता रहे, और फिर बालक के व्यक्तित्व की उन्नति मे सहायता दे न कि सर्वदा अपने विचारों का कोड़ा उस पर जमावे।

मांटिसरी सामग्रियों का निर्माण बालक की आयु के अनुसार हुआ है और उनका पारस्परिक संबंध है। दो या ढाई वर्ष के बालक में स्पर्श शक्ति की उत्तेजना अधिक होती है इसलिये उसके लिये ऐसे छोटे छोटे खिलौने रूपी यत्र बनाए हैं जिनके द्वारा स्पर्श शक्ति की उन्नति हो। इस प्रकार आयु के अनुकूल जिस शक्ति के विकास की आवश्यकता हो उसी के लिये यंत्र बने हैं।

इस प्रणाली के तीन मुख्य उद्देश्य हैं—(१) स्वतंत्रता, (२) व्यक्तिगत कार्य (इंडिविजुवल वर्क) और (३) स्वकीय उद्योग।

यद्यपि बालक के व्यक्तित्व पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता है तथापि शिक्षण में यह बात नहीं भुला दी जाती कि प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को संसार रूपी बृहद् परिवार में रहकर एक दूसरे की सहायता करना है। इसलिये व्यवस्थित बंधन की उत्पत्ति सर्वदा स्वतंत्रता से ही होनी उचित है। स्वतंत्रता के यह अर्थ नहीं हैं कि बालक कक्षा में जो चाहे करे। अध्यापक को उचित है कि बच्चे की स्वतंत्रता में तब बाधा डाले जब वह दूसरे बालक को हानि पहुँचाता

हो अथवा उसमें नम्रता तथा प्रेम का अभाव हो। बाल्यकाल से ही बालक तथा बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि जिस प्रकार वस्तुओं पर उनका अधिकार है उसी प्रकार उन्हीं वस्तुओं पर दूसरों का भी स्वत्व है इसलिए सर्वदा दूसरों का ध्यान तथा उनका मान करना चाहिए। यह विचार बालक में तभी उत्पन्न होगा जब अध्यापक तथा अध्यापिकागण उनके मान तथा मर्यादा की ओर ध्यान देंगे। जिस प्रकार प्रकृति में भगवान् भास्कर का आगमन कोमल उषा से प्रगट होता है और पुष्प का कार्य उस समय परि-पूर्ण होता है जब उसकी सुकोमल पँखड़ियाँ प्रथम बार एक एक करके खुलती हैं, उसी प्रकार मानव समाज का विकास तथा उसके कार्य की पूर्ति बच्चे के नन्हें नन्हें तथा सुंदर कार्यों में प्रगट होती है, और बालक अपनी शक्तियों का प्रकाश तभी कर सकता है जब वह स्वतन्त्र हो।

व्यक्तिगत कार्य का अर्थ यह है कि कक्षा में कार्य करने के समय बालक जो चाहे स्वतंत्रतापूर्वक करे। यदि आप किसी मांटिसरी कक्षा में प्रवेश करें तो आप आश्चर्यान्वित हो जायँगे कि किस स्वतंत्रता तथा प्रसन्नता से प्रत्येक बालक तथा बालिका अपने-अपने कार्य मे लीन हैं और उनको आपके आगमन की भी सुधि नहीं है। एक बालिका आपको चित्र बनाती दिखलाई देगी, तो कुछ बालक पौधों मे पानी देते हुए, कुछ गणित करते तो कुछ पढ़ते या लिखते दिखलाई देंगे। पृथक् पृथक् अपना अपना कार्य करने पर भी संपूर्ण कक्षा मे शांति प्रगट होगी, क्योंकि प्रत्येक बालक कक्षा की शांतिरक्षा की ओर ध्यान देगा। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या कभी बालकों को एकत्र करके समूह में शिक्षा नहीं दी जाती ? हाँ, दिवस में एक बार पूर्ण कक्षा के बालक तथा बालिकाओं को एकत्र करके शिक्षा दी जाती है जिसमें वे संसार में परस्पर मिलकर भी कार्य करना सीखें।

स्वकीय उद्योग—इसके यह अर्थ हैं कि बच्चा स्वतंत्रतापूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करे जिसमें वह अपनी शक्तियों को प्रगट कर सके।

मांटिसरी पाठशाला किसी चित्रकार की चित्रशाला के सदृश है जहाँ बच्चे अपनी शक्ति के अनुसार परस्पर सलाह लेते हुए अथवा एक दूसरों के विचारों का आदर करते हुए अपनी चित्र-शाला के स्वामी हैं। प्रत्येक माता पिता तथा अध्यापक और अध्यापिका को सर्वदा इस विचार पर ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा उनकी पूर्णाधिकृत संपत्ति अथवा दास नहीं है कि आपने जिस समय चाहा उसे ताडना दी और जब चाहा प्यार किया। जिस प्रकार ससार में हमे अपना कर्तव्य पूर्ण करना है उसी प्रकार वह भी भविष्य का एक नागरिक है और उसे भी अपने छोटे छोटे कार्यों द्वारा अपना कर्तव्य करना है। इस प्रणाली मे भी स्त्रियाँ ही अधिकांश अध्यापिका होती हैं और बालक तथा बालिकाओं को साथ साथ शिक्षा दी जाती है। इससे बालकों मे जो कन्याओं को निरादर करने का भाव होता है वह दूर हो जाता है और वे एक दूसरे का आदर करना तथा उनके गुणों का मान करना सीख जाते हैं और कन्याओं की स्वाभाविक कोमलता का प्रभाव बालकों के हृदय पर पड़ता है।

मैंने मांटिसरी प्रणाली के मुख्य मुख्य उद्देश्य यहाँ कहे हैं क्योंकि यह विषय बहुत विस्तीर्ण है और बिना इसका अध्ययन किए पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

ये दो मुख्य प्रणालियाँ तो बालक तथा बालिकाओं के बाल्य काल मे उनकी क्रीड़ाओं के अवलोकन के साथ साथ शिक्षा प्रदान करन की हुई। अब जिस बालक तथा बालिका ने प्रारभ से किंडर-गार्टन अथवा मांटिसरी प्रणाली द्वारा शिक्षा प्राप्त की है, उसको उच्च शिक्षा के लिये साधारण कक्षा मे, जहाँ पुरानी रीति के अनुसार शिक्षा दी जाती है, प्रवेश करना कठिन हो जायगा और उसको कष्ट भी प्राप्त होगा। इस विचार पर ध्यान देते हुए एक और प्रणाली की स्थापना हुई है जिसका नाम डाल्टन प्रणाली है। इस प्रणाली की स्थापना मिस हेलेन पैरकर्स्ट नामक अमे-

रिकन विदुषों के द्वारा हुई है। उनका भी यही विचार है कि विद्यार्थी को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा देनी उचित है। जिनका कभी विद्यार्थियों से संपर्क रहा है उनके सम्मुख बहुधा विद्यार्थी संबंधी ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं जिन पर निर्णय करना दुष्कर हो जाता है। उदाहरणार्थ—एक विद्यार्थी सब विषयों में परिपक्व तथा एक विषय में असमर्थ है अथवा किसी विद्यार्थी ने अपने स्वास्थ्य अथवा कोई और कारणवश सब विषय समाप्त नहीं किए और कोई विद्यार्थी देर से पाठशाला मे प्रविष्ट हुआ इत्यादि कितनी ही गूढ़ समस्याएँ अध्यापक के सम्मुख आ जाती हैं। डाल्टन प्रणाली ने इन कठिनाइयों को दूर कर दिया है। इस प्रणाली द्वारा विद्यार्थी अपनी शक्ति के अनुसार अध्ययन करता हुआ विषय मे सफलता प्राप्त करता है। इस प्रणाली द्वारा ऐसी सुगमता से शिक्षा दी जाती है कि विद्यार्थी जिस विषय में असमर्थ हो उसमें अधिक समय व्यतीत करके सफलीभूत होता है।

प्रत्येक अध्यापक तथा अध्यापिका को पहली बात यह माननी ही पड़ेगी कि प्रत्येक विद्यार्थी की मानसिक योग्यता समान नहीं होती। कोई किसी विषय में निपुण होता है और कोई किसी मे, इसी लिये सबको समान शिक्षा देना सर्वथा अनुचित है। दूसरी बात यह माननी होगी कि एक समय पर समस्त कक्षा एक विषय मे ध्यान नहीं लगा सकती। कोई विद्यार्थी पाठशाला खुलने के प्रथम घंटे मे कठिन विषय करना चाहता है और कोई सरल करना चाहता है। तीसरी बात यह है कि कुछ विद्यार्थी नित्य का कार्य तो बड़ी योग्यता से करते हैं परंतु परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं और कोई इसके विपरीत होते हैं। ये समस्त कठिनाइयाँ इस प्रणाली द्वारा दूर हो गई हैं।

डाल्टन प्रणाली से शिक्षक प्रत्येक विद्यार्थी की उन्नति की ओर ध्यान दे सकता है और विद्यार्थी भी अपनी शक्ति के अनुसार अपनी उन्नति में आनंद लेता हुआ अध्ययन का मूल्य समझता है।

अब मैं कुछ इस प्रणाली के कार्यक्रम के विषय में कहूँगी। इस पद्धति के संचालन के पूर्व पाठशाला मे प्रत्येक विषय में उत्तम पुस्तकालय तथा हर विषय के विशेषज्ञ भी होने चाहिएँ। पश्चात् प्रत्येक विषय के अनुसार "सब्जेक्ट रूम" अर्थात् विषय-गृह भी नियुक्त कर देना चाहिए, जहाँ विद्यार्थी जाकर पुस्तकालय और विशेषज्ञ दोनों की सहायता से उन्नति कर सके।

दूसरे विद्यार्थी को पूर्ण स्वतंत्रता देनी चाहिए कि अध्ययन के घंटों मे वह अपने इच्छानुसार जो काम चाहे प्रथम करे। इससे यह लाभ होगा कि वह अपने समय का कार्य-विभाग आप करना सीखेगा और जिस जिस विषय में उसे कठिनता होगी उसमे अधिक समय व्यतीत कर सकेगा। विद्यार्थी को अपने नित्य के कार्य की डायरी अर्थात् दिनचर्या रखनी होती है और प्रत्येक सप्ताह मे वह उसे अपन शिक्षक को दिखलाता है जिससे दोनों को ज्ञात हो जाता है कि कितनी उन्नति हो रही है। साथ ही साथ अध्यापक को भी एक दिनचर्या रखनी होती है जिसमे वह प्रत्येक विद्यार्थी के विषय मे निरीक्षण संबंधी अनुमति लिखता है। इससे दोनों मे संबंध हो जाता है।

डाल्टन प्रणाली में कक्षाएँ नहीं होतीं—परंतु बालकों की उन्नति के अनुसार प्रत्येक विषय मे श्रेणियाँ होती हैं जिससे जो विद्यार्थी जिस श्रेणी के योग्य है वह उसी का कार्य करेगा। जैसे यदि एक विद्यार्थी गणित मे असमर्थ हो तो वह तीसरी श्रेणी का कार्य करेगा और मातृभाषा मे निपुण हो तो छठी श्रेणी का कार्य कर सकता है।

हर एक विषय-श्रेणी आठ मास क कार्य मे विभक्त की जाती है जिन्हें असाइनमेंट (अर्थात् पाठ्य-क्रमावधि) कहते हैं। पश्चात् वे प्रत्येक सप्ताह के कार्य मे विभाजित कर दिए जाते हैं, जिससे प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि उसको दूसरी उच्च श्रेणी में पदार्पण करने के पहले इतना कार्य समाप्त करना है। उसको पूर्ण अधिकार है कि वह

जितनी शीघ्रता से चाहे अपनी शक्ति के अनुसार पाठ्य-क्रम समाप्त कर सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि इतनी स्वतंत्रता देने से विद्यार्थी को जिस विषय में रुचि होगी वही वह सीखेगा, परंतु यह बात नहीं है। हर एक मास की पाठ्य-क्रमावधि की समाप्ति तथा नए पाठ्यक्रम को लेने के प्रथम उसे अपने शिक्षक के पास जाकर प्रत्येक विषय की सूचना देनी पड़ती है। यहाँ अध्यापक को देखना चाहिए कि उसने सब विषय पूर्णतया समाप्त किए अथवा नहीं। यदि न किए हों तो उसे समाप्त किए विषय में दूसरा पाठ्य-क्रम नहीं मिलता। इससे यह लाभ है कि वह जिस विषय मे निपुण है उसे शीघ्रता से समाप्त कर दूसरे कठिन विषयों में अपना समय व्यतीत करता है।

डाल्टन-प्रणाली मे नित्य कुछ घंटे तो स्वाध्ययन के लिये बाँट दिए जाते हैं और कुछ घंटे संपूर्ण कक्षा को साथ शिक्षा दी जाती है जिसे कान्फरेंस पोरियड अथवा ग्रुप वर्क अर्थात् "समूह-कार्य" कहते हैं। इनमे अध्यापक विद्यार्थी की कठिनाइयों को सुलझाते तथा आगामी पाठ पढ़ाते हैं।

अब आप लोग समझ ही गए होंगे कि इस प्रणाली द्वारा वार्षिक परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे ही विद्यार्थी जिस विषय की पाठ्यक्रमावधि को समाप्त कर लेता है, उसे दूसरी उच्च श्रेणी में प्रवेश करने का अधिकार है।

वर्तमान काल में शिक्षा देने की ये तीन मुख्य पद्धतियाँ प्रचलित हैं। युरोप तथा अमेरिका में तो इन प्रणालियों का प्रचार बहुतायत से हो रहा है परन्तु भारतवर्ष मे गिनती की पाठशालाओ तथा शिक्षकों ने अभी इस ओर ध्यान दिया है। आशा है कि वे भी इन प्रणालियों में अनुभूति प्राप्त करते हुए नए नए शिक्षा संबंधी आविष्कार करेंगे। जिन बालक तथा बालिकाओं को इन पद्धतियों द्वारा शिक्षा दी जायगी वे विद्यारूपी निधि को ग्रहण करने में आनंद प्राप्त करते हुए यथाशक्ति उद्योग करेंगे और भविष्य में अपने व्यक्तित्व को न खोते हुए विचारवान् बनेंगे।

पद्धति-भेद—प्राचीन काल में प्रारंभ ही से बालक तथा बालिकाओं को भिन्न भिन्न संस्थाओं मे शिक्षा दी जाती थी और आजकल नवीन पद्धतियों द्वारा उनको "को-एडुकेशन" अर्थात् साथ साथ शिक्षा देने का प्रयत्न हो रहा है। यह विषय बड़ा ही जटिल है और इसमें अनुभवी विशेषज्ञ ही अपनी अनुमति दे सकते हैं। प्राचीन काल में कंठस्थ कराने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसकी पुष्टि में विद्वानों की सम्मति थी कि वैदिक काल मे लिपि का निर्माण नहीं हुआ था। वेदों का ज्ञान प्रारंभ मे बिना लिपि के ऋषियों को प्राप्त हुआ और इसी कारण समस्त शिक्षा मुखस्थ दी जाती थी, परंतु श्रीमान् रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझाजी ने अपने अनुसंधान तथा अनेक प्रमाणों से पुरातत्ववेत्ताओं को चकित कर दिया है। उनकी सम्मति है कि वैदिक काल ही मे लिपि का निर्माण हो गया था, तब भी वेदों को सुरक्षित रखने तथा उच्चारण को शुद्ध रखने के लिये कंठस्थ करने की प्रथा प्रचलित थी, परंतु नवीन पद्धति के अनुसार इस रीति का विरोध किया जाता है। परंतु बिना समझे रटाने से बुद्धि के विकास मे न्यूनता आ जाती है अर्थात् मुखस्थ किए विषय का ज्ञाता तो वह अवश्य हो जाता है परंतु संसार में उसकी बुद्धि की तीव्रता तथा उसके विस्तीर्ण ज्ञान मे न्यूनता आ जाती है।

प्राचीन काल में बालक तथा बालिकाओं की आठ वर्ष से पूर्व की प्रारंभिक शिक्षा गृहों मे माता पिता ही द्वारा होती थी। उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरुकुलों में प्रवेश करने पर छात्र की रुचि के अनुसार शिक्षा नहीं दी जाती थी, वरन्च निश्चित पद्धति के अनुसार ही प्रत्येक विद्यार्थी को अध्ययन करना पड़ता था, परंतु छात्र को योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् रुचि के अनुसार गुरु ब्रह्मज्ञान तथा शस्त्रविद्या की शिक्षा देते थे। अब वर्तमान काल में दो या ढाई वर्ष की अवस्था ही से बच्चे की शिक्षा पाठशालाओं में आरंभ होती है और बालक के सम्मुख ऐसे साधन रखे जाते हैं

जिसमें वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रगट कर सके। पश्चात् उसकी रुचि के अनुसार उसे शिक्षा दी जाती है।

पुरातन काल में बच्चे को ताड़ना देने की प्रथा भी प्रचलित थी, परंतु वर्तमान काल में बालक की मानसिक उन्नति के लिये शारीरिक दंड न देकर ऐसी रीतियों का प्रयोग किया जाता है जिसमें वे स्वयं अपनी भूलों का ज्ञान प्राप्त कर सकें। शारीरिक दंड देने से यह प्रमाणित हुआ है कि बच्चे तुतलाते, डरपोक तथा हठी हो जाते हैं, और उनकी प्राकृतिक बाढ़ में बाधा पड़ती है जिससे उनकी स्वाभाविकता भी नष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार प्राचीन काल मे बालक तथा बालिकाओं की शिक्षा में कोई अंतर नहीं था उसी प्रकार वर्तमान काल मे भी उसमें कोई विशेष भेद नहीं है।

भारतवर्ष मे आजकल सामाजिक कुरीतियों के कारण स्त्रियों का शिक्षा संबधी पद पुरुषों से कम हो गया है परंतु आशा है कि शीघ्र ही भविष्य मे वे दोनों समान पद के अधिकारी होंगे, और प्राचीन तथा अर्वाचीन पद्धतियों पर मनन करते हुए विशेषज्ञ गण राष्ट्र की सतानों की उन्नति के लिये उपयुक्त शिक्षापद्धतियों का अनुसधान करेगे।

---

(२६) लंका की स्थिति पर विचार

[लेखक—श्री हरिचरणसिंह चौहान]

आजकल भारतवर्ष के कुछ विद्वानों को अधिक विद्या पढ़ने से अजीर्ण सा होता जा रहा है। वे बिना संकोच और बिना विचारे प्राच्यविद्याविशारदों की लीक पर चलने लग गए हैं। प्राच्य-विद्याविशारद जो कुछ खोज हमारे देश में करते हैं, वे अपनी प्राच्य बुद्धि से करते हैं—हिंदुस्थानियों को अपने देश की खोज अपनी हिंदु-स्थानी बुद्धि और हिंदुस्थानी सिद्धांत के अनुसार करनी चाहिए।

कुछ काल से प्राचीन इतिहास और प्राचीन नगरों की खोज का सिलसिला जारी है। बहुतेरे लोग तो अपने गुरु युरोपीय प्राच्यविद्या-विशारदों की लीक व लीक चलने मे अपना सौभाग्य समझते हैं और कुछ लोग वास्तविक खोज प्राचीन लेखों, सिक्कों (मुद्राओं) और प्राचीन चिह्नों (भूगर्भ से प्राप्त) के आधार पर करते हैं। और यही खोज, खोज समझी जा सकती है। अत: इसी विषय पर आज हम अपने कुछ विचार प्रगट करते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व किसी महाशय ने मानव द्वीप का वर्णन करने मे अपने पांडित्य का परिचय दिया था। उन महाशय ने आर्य्यावर्त को भारतवर्ष से खैंचकर पारस देश में जा पटका है। इसी प्रकार सुमेरु पर्वत को अरब देश मे, खांडव बन को बसरा में, मथुरा को पारस की खाड़ी के पास उमान प्रांत में, और गिरिव्रज (मगध की राजधानी) को उसके पश्चिमोत्तर मे जा फेंका है। उक्त महाशय ने जैसे उमान प्रांत को उमा (पार्वती) के नाम में परिवर्तन करके तोड़ मरोड़ की है वैसे ही पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर प्रत्येक स्थान के नाम में भी खींचातानी की है। मथुरा को गोकुल से इतनी दूर पहुँचाने में जो उन्होंने स्वामी दयानंद सर-

स्वती के भागवत के नाम से नवीन गढ़ंत श्लोक* का सहारा लिया है, कि अक्रूर का रथ वायुवेग से सबेरे का चला शाम को गोकुल पहुँचा, ठीक नहीं है, क्योंकि, रथ का नाम वायुवेग था जैसे आजकल मोटरों के नंबर उनके नाम हैं। भागवत में वर्णित कृष्ण-जन्म की कथा में स्पष्ट लिखा है कि, वसुदेवजी आधी रात के समय कृष्ण को लेकर गोकुल गए और उन्हें यशोदा की खाट पर सुलाकर और उनकी सद्यःप्रसूता कन्या को लेकर उल्टे पैर मथुरा चले आए, और दिन निकलने से पहले अपने बंदीगृह में पहुँच गए। इससे गोकुल की दूरी का पता अच्छे प्रकार लग सकता है पर विचार करे कौन ? खैर इस विषय को यहाँ ही छोड़ना उचित है।

अब कुछ दिनों से कुछ विद्वानों को लंका की खोज की भी जरूरत पड़ी है। वे भी इसी प्रकार खींचातानी कर अपनी अट-कलपच्चू दलीलों के आधार पर लंका को समुद्र में से घसीटकर भारतवर्ष के विविध प्रांतों में बताने लगे हैं। यही नहीं बल्कि वाल्मीकि रामायण के कुछ असंबद्ध श्लोकों का सहारा लेकर अपने सिद्धांत की पुष्टि भी करने लगे हैं।

स्मरण रहे कि वाल्मीकिजी ने जो रामायण बनाई वह श्री रघु-नाथजी के साथ साथ स्वयं भ्रमण करके नहीं बनाई थी कि, जिससे सब स्थानों का ठीक ठीक पता लग सके। इसी लिये श्रीरामचंद्र आदि के भ्रमण के स्थानों मे दिन रात का फरक आता है। यदि उसे विचार के साथ देखा जाय तो वे स्थान क्रमबद्ध कहीं न मिलेंगे—विश्वामित्र के यज्ञ की पूर्ति कराकर श्रीराम लक्ष्मण को मिथिला पहुँचाने में पहले गंगा को और फिर सोननद को पार उतारा गया है; जो बिल्कुल विप-रीत मार्ग है। इसी प्रकार भरतजी का उनके नाना के वहाँ केकय देश में आने जाने का मार्ग भी है। हमारे शोधकों को हिंदुस्थान का नकशा सामने रखकर रामायण के मार्गों का विचार करना चाहिए, तब सहज ही पता लग जायगा कि वे मार्ग ठीक नहीं हैं।

---

* रथेन वायुवेगेन जगाम गोकुलं प्रति।—भागवत।

इसके सिवाय रामायण एक काव्य ग्रंथ है जो रामरावण-युद्ध के रूप में बनाया गया है। हम आस्तिक लोग भगवान् राम को ईश्वर का अवतार और रामायण को अपने पूर्वजों की कीर्ति मानकर अभिमान कर सकते हैं, और उसके अनुसार आचरण कर सन्मार्ग प्राप्त कर सकते हैं—परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो राम और रावण का समय एक नहीं माना जा सकता; क्योंकि, रावण ब्रह्मा जी की चौथी पीढ़ी में हुआ था अर्थात् ब्रह्मा का पुत्र पुलस्त्य, इसका विश्रवा और विश्रवा का पुत्र रावण हुआ, इधर ब्रह्मा का पौत्र कश्यप और कश्यप के पुत्र सूर्य से लगभग ६० पीढ़ो मे श्री रघुनाथ-जी हुए। इसलिये दोनों के समय में दिन रात का अंतर है। अत हमारे शोधक लोगों को चाहिए कि लंका का पता लगाने के बनिस्बत पहले राम और रावण की उम्र का तो पता लगा ले। वे कहाँ तक समकालीन सिद्ध होते हैं।

रामायण के आधार पर राम रावण के युद्ध का समय निश्चय किया जाय और राय बहादुर बाबू हीरालालजी के लिखे अनुसार त्रेता युग का अंतिम समय भी मान लिया जाय, तो भी युगमान के अनुसार द्वापर युग के ८६४००० वर्ष और कलियुग के आज तक ५०२९ वर्ष और दोनों का योग हुआ ८६९०२९ वर्ष। इतने वर्षों के बने हुए स्थानों का पता लगाना आकाश-पुष्प के समान है। तब सहसा यह अनुमान कर लेना कि अमरकंटक के पहाड पर लंका गढ़ के खँडहर तथा लक्ष्मणेश्वर का मंदिर मौजूद है, केवल कल्पना मात्र ही है। यदि लक्ष्मणेश्वर का मंदिर और अमरकंटक के पहाड़ पर लंका गढ के खँडहर मौजूद हैं तो सूखे हुए समुद्र के दलदल पर श्रीरामचंद्र जी का बनवाया हुआ सेतु का चिह्न भी अवश्य होना चाहिए, और रामेश्वर जिसकी स्थापना का रामायण में वर्णन है, उसके होने में तो शंका करना व्यर्थ ही है—वह तो होना ही चाहिए। क्या इन्हें वहाँ शोधकों ने शोध निकाला है अथवा नहीं ?

इसी प्रकार गोंड़ों को रावण के वंशधर मान लेना भी भूल ही है, क्योंकि बालकपन से सुनते चले आते हैं कि—"इक लख पूत सवा लख नाती। वा रावण घर दिया न बाती।" कवि गंग ने भी लिखा है कि "टूट गई लंका फूट मिलो विभीषण आय रावण समेत वंश आसमान को गयो।" फिर रामायण से यह भी पता चलता है कि रावण का कुटुंब सहित नाश हो गया, उसका और उसके वंशजों का अंत्येष्टि कर्म भी श्रीरामचंद्रजी की आज्ञा से विभीषण ने किया था, तब उसका वंश कहाँ से चला ? संभव है रावण नाम का कोई व्यक्ति गोंड़ों के पूर्वजों में भी हुआ हो, और गोंड़ उसके वंशज हों, परंतु जिस रावण का रामायण में वर्णन है वह रावण अपने सब बेटे पोतों का नाश कराकर अंत में रामचंद्रजी के हाथ से मारा गया था, ऐसी अवस्था में गोंड़ों को उसका वंशज मानना भूल ही है।

याकोबी साहब किसी महेंद्र पर्वत के आधार पर लंका को आसाम में ले गए हैं। अलवर इतिहास कार्य्यालय के भूतपूर्व स्वर्गवासी हाकिम राजरत्न मुंशी जगमोहनलालजी साहब अलवर गिरदुर्ग के पीछे रावण देवरा नामक एक खँडहर खेड़े को रावण का जन्मस्थान मानते थे। वे वहीं के रेणी नामक एक छोटे से कसबे को रेणुका आश्रम और उसकी पहाड़ी को रेणागिर, तथा परशुराम जी का जन्मस्थान बतलाते थे, और कहते थे कि राजपूताने में पहले समुद्र था जो सूख गया, यहीं पर लंका थी। अब भी स्वर्णगिर पर्वत सिरोही राज्य में है। कुछ लोग जावा, सुमात्रा, लका (लंका) द्वीप, मालद्वीप, मलाया प्रायःद्वीप, आदि को लका अनुमान करते हैं। राव बहादुर किबे महोदय ने अमरकंटक की चोटी पर लंका गढ़ का होना और वहाँ के एक बड़े दलदल को प्राचीन सागर मान-कर छत्तीसगढ़ के जिले में लंका का अनुमान किया है। ऊपर लिखे हुए महाशयों के ये अनुमान ही अनुमान थे, पर अब राय-बहादुर बाबू हीरालालजी साहब ने छत्तीसगढ़ के जिले मे लंका

का होना दृढ़ निश्चय कर नागरीप्रचारिणी सभा के 'कोशोत्सवस्मारक-संग्रह' में अपना लेख छपाया है।

वे लिखते हैं कि "इसके उत्तरी छोर पर अयोध्या और दक्षिणी छोर पर अमरकंटक है जो बघेलखंड के अंतर्गत है। अमरकंटक के परे छत्तीसगढ़ का प्रांत है जो प्राचीन काल में महाकोशल कहलाता था। त्रेतायुग में राम उत्तर कोशल के छोर से पैदल चलकर दक्षिण या महाकोशल की सीमा पर पहुँचे और उन्होंने उस सम्राट् को, जिसने उनकी प्रिय पत्नी का हरण कर लिया था, हराकर विजय का डंका बजाया और उभय कोशलों का आधिपत्य प्राप्त कर प्रजापालन और शासन का वह नमूना दिखला दिया जो "रामराज" शब्द के उच्चारण करते ही प्रत्येक हिंदू के हृदय मे आदर्श का चित्र खड़ा कर देता है।" "रावणीय लका के अमरकटक होने का दावा दृढ़तर है।"

रायबहादुर बाबू हीरालालजी के उपर्युक्त नोटों से साबित है कि, दक्षिण कोशल में रावण का राज्य था और वहीं लंका थी। सामुद्रीय लंका अर्थात् सीलोन (सिंहल द्वीप) को लंका से पृथक् बतलाने मे उन्होंने कवि राजशेखर* के बालरामायण नामक नाटक के आधार पर सीतास्वयंवर के समय राजशेखर नामक सिंहल के राजा का वहाँ उपस्थित होना मानकर रावण द्वारा राजशेखर को इस प्रकार ताना मारकर—"रावण, सिंहलपते किमिदं संदिह्यते। न च सदेहो वीरवृत्त-निर्वाहः।" लंका को सिंहल से पृथक् सिद्ध किया है। पर बाबू साहब ने कवि राजशेखर के काव्य को तो इतना प्रामाणिक मान लिया कि जिसके आधार पर लंका का सिंहल से पृथक् होते ही उसको समुद्र में से निकालकर दक्षिण कोशल में ला पटका, और रामायण बालकांड के पुत्रेष्टि यज्ञ के प्रकरण में राजा दशरथ द्वारा

* राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी के आस पास है।

निमंत्रण किए हुए नरेशों में कोशल देश और उसके राजा भानुमंत का स्पष्ट नाम रहते भी, उसका नाम उसके देश से मिटा दिया और रावण को लंका सहित कोशल का राजा बना डाला। अतः इस रामायण बालकांड के नीचे लिखे हुए श्लोक* से रावणीय लंका का अमरकंटक में होने का उनका माना हुआ दृढ़ दावा कावा खा जाता है।

आपकी एक दलील यह भी है कि बड़े बड़े तालाब सागर कहलाते हैं और दंडकारण्य ऐसे सागरों से भरा हुआ था, वहाँ अभी तक बड़े बड़े तालावों की बहुतायत है तथा वे दंडक शब्द का शावरी भाषा के अनुसार "जलमय" या "जलप्लावित" अर्थ करते हैं। परंतु देशकाल-भेद से दंडक के कई अर्थ होते हैं। इधर ग्वालियर राज्य और कोटा राज्य के शाहबाद जिले मे डॉग है जो दडक वन का ही रूप है। वहाँ पहाडी भूमि में बड़े बड़े खार और खड्डे हैं जिनमें हाथी तक गायब हो जाते हैं। तब "दंडक" शब्द का जलमय भूमि का अर्थ कहाँ रहा? इसी प्रकार सागर और तालावों का वर्णन हर एक प्रांत में आपको मिल सकता है। फिर आपने यह निश्चय कैसे कर लिया कि उस प्रांत के बड़े बड़े तालाब—जिनको आप सागर की पदवी से संबोधन करते हैं—राम और रावण के जमाने के ही कुदरती बने हुए हैं, कृत्रिम नहीं हैं, और सागर जिला क्या वास्तव में सागरों के कारण ही सागर कहलाया है अथवा दूसरा कारण किसी नामविशेष से है? कीर्तिसागर, लछमनसागर, आदि नामों से तो यही प्रतीत होता है कि ये सागर किसी विशेष मनुष्य के बनवाए हुए हैं, जैसे राजपूताने में आना सागर, जयसमुद्र, राजसमुद्र, जैतसागर, जोधसागर, आदि आदि। राम के जमाने में लंकातटस्थ जलाशय का विस्तार सौ योजन बतलाया गया है परंतु आप शत योजन शब्द को अनुमान का संकेत मानते हैं और लिखते हैं कि

* "तथा कोशलराजानं भानुमंतं सुसत्कृतम्। मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम्॥"—श्लोक २६ सर्ग १३ बालकांड।

उससे इतना ही बोध होता है कि उसका विस्तार अन्य तालाबों से बड़ा था। इस बड़े शब्द से शायद आपका अनुमान दो चार मील से हो, क्योंकि, मामूली तालाब एक आध मील से अधिक नहीं हो सकते; और जब सागर का विस्तार दो चार मील माना जाय तो उसके बीच का टापू अधिक से अधिक एक मील हो सकता है, परतु रामायण में लंका गढ़ का विस्तार १०० × ३० योजन लिखा है*। इसको भी आपके लिखे अनुसार दुर्गों (गढ़ों, किलों) से बड़ा मान लें तो भी अमरकंटक के दलदलवाले गढ़ से कहीं अधिक बड़ा हो सकता है। शत योजन शब्द से तो आपने अन्य से बड़ा मान लिया, परतु यहाँ साथ में ३० और सौ योजन का विस्तार है जो अनुमान का संकेत नहीं करता, सीमा बाँधता है—जिसका समावेश अमरकंटक के दलदल के बीच में नहीं माना जा सकता।

इसके सिवाय रामायण में लंकापुर के निवासियों की संख्या विभीषण के कथन से इस प्रकार मालूम होती है कि मांस रुधिर भक्षण करनेवाले दश करोड़ हजार राक्षस लंकापुर में निवास करते थे†। रामायण के इस कथन की पूर्त्ति वे अमरकटकी लका में किस प्रकार बैठाल सकेंगे ? विभीषण के अलावा हनुमानजी ने भी लंकागढ़ के उत्तर द्वार के राक्षसों की संख्या दश अर्बुद बतलाई है‡। इन सख्याओं को भी आपके पूर्व लिखे अनुसार अनुमान का ही सकेत मान लेवें, तब भी लाखों की संख्या तो माननी ही पड़ेगी। क्या अमरकंटकवाले लंकागढ़ में इन लाखों की संख्या का समावेश हो सकता है ? चाहे दो चार १० लाख जनसंख्या इस समय उक्त प्रांतों की हो सकती है सही, पर न तो उसका समावेश दल-

---

* शकुनैरपि दुष्प्रापे टंकच्छिन्नचतुर्दिशि। त्रिंशद्योजनविस्तीर्णां शतयोजनमायता ॥ २४ ॥—उत्तरकांड ५ वाँ सर्ग।

† दशकोटिसहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम्। मांसशोणितभक्षाणां लंकापुरनिवासिनाम् ॥

‡ न्यर्बुदं रक्षसामत्र उत्तरद्वारमाश्रितम् ॥२७॥—युद्धकांड तीसरा सर्ग।

दली लंका में ही हो सकता है और न अमरकंटक के पहाड़ी किले के खँडहरों पर ही।

प्राचीन लेखों में लंका की स्थिति लवणसागर में बतलाई गई है। लवणसागर का अर्थ ही खारा समुद्र है जो सिवाय समुद्र के और कहीं नहीं हो सकता, पर राम की दैवी शक्तियों का मनन करके रायबहादुर बाबू हीरालालजी साहब ने अमरकंटक के दक्षिण में लवण नामक परगना भी ढूँढ़ ही निकाला जिसकी भूमि आस पास की भूमि से कुछ नीची होने के कारण प्राचीन काल में पानी भरा रहने की उसमें उनको संभावना करनी पड़ी। भरतपुर राज्य की भूमि अभी तक इतनी नीची है कि कोसों तक पानी ही पानी दृष्टि-गत होता है, और यदि किसी पहाड़ या ऊँचे स्थान से देखा जाय तो, वास्तव मे वह समुद्र ही जान पड़ता है, और केवल यही नहीं उस जमीन में खार भी इतना है कि जिसके कारण लाखों मन खारी नमक बनता था जो अब बंद है और जिसके हर्जाने के पाँच सौ मन नमक के सिवाय १५००००) डेढ़ लाख रुपए भारत गवर्मेंट भरतपुर राज्य को प्रति वर्ष देती है। ऐसी दशा में तो भरतपुर राज्य के भी उस भूभाग मे लवणसागर मानकर वहाँ भी लंका को ला पटका जा सकता है, क्योंकि यहाँ भी लक्ष्मणजी के मंदिर मौजूद हैं और साँभर नामक झील है और उसके बीच का टापू जिस पर शाकंभरी देवी का मंदिर है लंका मानी जा सकती है।

रायबहादुर बाबू हीरालालजी साहब खरोद गाँव के लक्ष्मणे-श्वर के मंदिर का आधार लेकर रामेश्वर के मंदिर के वहाँ होने की भी भावना उत्पन्न करके लिखते हैं कि "उसके आस पास रामेश्वर मंदिर भी कहीं रहा होगा। उसको उस स्थल पर होना चाहिए जहाँ पर से राम ने सेतु बाँधने का काम आरंभ किया था—कालां-तर में सेतु तथा जलाशय आदि के मिट जाने पर क्या मंदिर का मिट जाना कोई आश्चर्य की बात है, हम कहते हैं कोई नहीं। पर आश्चर्य की बात तो लक्ष्मणेश्वर जी के मंदिर के अब तक विद्यमान

रहने की है; क्योंकि कालांतर मे सेतु तथा जलाशय और राम के मंदिर मिट जा सकते हैं पर लक्ष्मणेश्वर का मंदिर नहीं।"

राय बहादुर साहब की एक दलील यह भी है कि "आर्य लोगों ने वायव्य की ओर से इस देश में प्रवेश किया और ज्यों ज्यों वे आगे बढ़ते गए, त्यों त्यों वे जंगली मूल-निवासियों को हटाते गए।" "जान पड़ता है कि रामचंद्र के होने तक उन्होंने विंध्य के उत्तरीय प्रांतों में अधिकार जमा लिया था। इसके पश्चात् उन्होंने आगे बढ़ने का विचार किया, और मार्ग खोलने के लिये विंध्य के पार निविड़ जंगलों में ऋषि मुनियों को मिशनरियों की भाँति पठ-वाना आरंभ किया, परंतु मूल-निवासियों ने इसको अपने अधिकार पर आक्रमण समझा, बहुतेरों को उन्होंने मार भी डाला आदि।" राय बहादुर साहब का इससे तात्पर्य यही है कि आर्य लोग वायव्य कोण से भारतवर्ष मे आए और रामचद्रजी के समय तक विंध्य के आगे नहीं बढ़ सकते थे, क्योंकि उनको वे राक्षस (मूल-निवासी) खा जाते थे। खेद इस बात का है कि आजकल के विद्वान् लोग अपने पाश्चात्य गुरुओं के वाक्यों के आधार पर आर्यों को वायव्य कोण से आया हुआ विदेशी सिद्ध करते हैं और यहाँ के मूल-निवासयों को शूद्र राक्षस दैत्य आदि बतलाने मे संकोच नहीं करते; पर आज तक किसी विद्वान् ने यह सिद्ध नहीं किया कि, अमुक अमुक नामधारी आर्यों ने सबसे प्रथम भारतवर्ष में प्रवेश किया था। जैसे कि यवनों मे सिकंदर, मुसलमानों में खलीफाओं के सेनापतियों के नाम पाए जाते हैं, वैसे ही किसी आर्य का नाम भी तो होना चाहिए—पर कोई बतला नहीं सकता। इसके विपरीत हमारे यहाँ पुराणों, स्मृतियों और काव्यों आदि में सृष्टि के विकास का इतिहास भरा पड़ा है। उससे तो यही प्रकट होता है कि आर्यों के अमुक अमुक नरेशों की अमुक अमुक संतान ने उदीच्यादि देशों में अपना वंशविस्तार कर वहाँ अपना आधिपत्य जमाया। तब वायव्य कोण से भारतवर्ष में लाकर आर्यों को बसाना केवल

पाश्चात्य विद्वानों का आर्यों को अपने माफिक विदेशी बताकर उन (आर्यों) के मौरूसी अधिकारों को अपहरण करना है और बिना विचारे हम लोग भी उन्हीं की लकीर के फकीर बनते जाते हैं।

राय बहादुर साहब को स्मरण रखना चाहिए कि सबसे पहले अगस्त्यजी ने विन्ध्य पर्वत को उल्लंघन कर दक्षिण समुद्र के तट पर अपना धर्मकृत्य किया था, और ये मित्रावरुण के पुत्र थे और श्रीरामचंद्रजी से दीर्घ काल पहले हुए थे। रावण स्वयं बड़ा पंडित और ब्रह्मा के पुत्र पुलस्त्य का पोता था, जिसने दक्षिण समुद्र मे अपना राज्य स्थापित किया था। फिर जिनको दक्षिण के मूल-निवासी बतलाकर बहुधा लोग अनार्य्य की पदवी देते हैं, उनकी उत्पत्ति भी किसी ने आर्यों से पहले सिद्ध नहीं की है, तब सृष्टि की उत्पत्ति से पहले ये अनार्य्य लोग कहाँ से पैदा हो गए? पहले आर्य शब्द है फिर इस आर्य शब्द मे अन् प्रत्यय लगने से अनार्य शब्द बनता है। तब यही सिद्ध होता है कि सृष्टि के आदि में आर्यों की सृष्टि हुई थी। जैसे जैसे सृष्टि बढती गई वैसे वैसे ही पूर्वजों ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से वर्णव्यवस्था नामक एक व्यवस्था बाँध दी। आचार-विचार-भेद के कारण देवता, राक्षस, दानव आदि और फिर कर्मभेद से उन्हीं के वंशजों की अनेक जातियाँ बनीं जो आज समस्त पृथ्वी पर विद्यमान हैं, अत भारतवर्ष के मूल-निवासी आर्य हैं, न कि अनार्य। आज जिनको अनार्य कहा जाता है, वे भी आर्य ही हैं—जैसे आजकल दक्षिण भारत में ब्राह्मण और अब्राह्मण भेद बन गया है वैसे ही पूर्व काल मे आर्य और अनार्य दो भेद बन गए थे, अत. आर्य लोग सृष्टि की उत्पत्ति से ही भारतवर्ष में बसते चले आ रहे हैं और दक्षिण के निवासी भी आर्य थे और रामचंद्रजी से पूर्व विंध्याचल के दक्षिण में उनका आना जाना बराबर बना था।

राय बहादुर बाबू हीरालालजी साहब ने फिर लिखा है कि राम ने गोंड़ों के विपक्षी उरावों और शवरों को अपने पक्ष में मिला

लिया और उनकी सहायता से विजय पाई। "यही उराव प्राचीन काल में वानर कहलाते थे, शवरों की कदाचित् रीछ संज्ञा रही हो।" आजकल उनके हिसाब से शवरों की सख्या ६ लाख और उरावों की ८ लाख है। रामायण में उराव शब्द का प्रयोग कहीं नहीं आया है, तिस पर भी बाबू साहब ने उराव शब्द को बनराव में खींचकर उसका वानर बना डाला, और शवर जाति को, जिसकी एक स्त्री शवरी का वर्णन रामायण में मौजूद है, रीछ जाति अनुमान कर लिया। आजकल के इस मनुष्यदेहधारी जनसमुदाय को रीछ वानर करार देकर राम की सेना मान लेना शोधक विद्वानों का ही काम है।

बाबू साहब ने मनुष्यजाति के उराव तथा शवरों को तो वानर तथा रीछ स्वीकार कर जानवर बना डाला और गोंड़ों को राक्षस—पर बिचारे जटायु ने क्या बिगाड किया कि उसे पक्षी (जानवर) जाति से मनुष्यजाति मे परिवर्तन नहीं किया और उसे पक्षी ही रहने दिया कि, जिसने सीता के रोदन करने पर रावण जैसे बलशाली से घटों युद्ध कर उसे मूर्च्छित तक कर दिया, और अंत में वीरगति पाई कि जिसका अंतिम संस्कार श्री रघुनाथजी ने अपने कर-कमलों से किया था।

रामायण मे लिखा है और सब हिंदू मानते भी हैं कि राम ने संसार में अवतार लेकर नरलीला की। बाबू हीरालाल जी साहब के लिखे अनुसार राम ने प्रतिदिन १५, २० मील ही चलकर मुकाम किया सही, पर १४ वर्ष उन्होंने केवल चित्रकूट और पंचवटा के और पास मे ही (जिन्हे आप रावण के राज्य में बतलाते हैं) नहीं बिताए। आज जिस स्थान पर चित्रकूट है क्या उस समय भी इसी स्थान पर था? उसका क्या प्रमाण? जैसे आपने लंका को समुद्र में से निकालकर छत्तीसगढ के जिले में, कि जहाँ पर उस समय मे भानुमंत राजा का राज्य था, ला बसाया तो कोई दूसरा मनुष्य चित्रकूट को और कहीं घसीट ले जाकर कोई नवीन

कल्पना कर सकता है। चाहे आप जंगली द्रविड़ लोगों की भाषा के आधार पर प्रत्येक गोदारि (नदीवाचक) को गोदावरी मानकर प्रत्येक गोदारि पर पृथक् पृथक् पंचवटी बना लें पर राम की पंचवटी दक्षिण हैदराबाद में ही मानी जायगी।

आपकी प्रत्येक दलील पर विचार करने की जब आवश्यकता होगी तब आप दक्षिण कोसल के राजा भानुमंत का, कि जिसका वर्णन रामायण बालकांड के पुत्रेष्टि यज्ञ के संबंध में आया है, अस्तित्व मिटा देवेंगे।

यह पहले वर्णन कर आए हैं कि, वाल्मीकि जी ने राम के साथ साथ दौड़कर रामायण नहीं लिखी थी कि जिसके कारण सब स्थानों का ठीक ठीक पता लगाया जा सके। लंका के विषय मे भी वही बात है। उसकी लंबाई, चौड़ाई तथा समुद्र की दूरी केवल अनुमान मात्र हैं, रामावतार के समय रावण की राजधानी लंका थी। इसी लका को बौद्धों के समय में सिंहल, और अब अँगरेजों के जमाने में, सीलोन कहने लगे पर लंका नाम उसका सदैव अमिट रहा। राजशेखर के काव्य तथा पुराणों के आधार पर लका से पृथक् सिंहल का अस्तित्व सिद्ध कर लंका को समुद्र से हटाना किसी प्रकार ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये ग्रंथ रामावतार के बहुत वर्ष पीछे के बने हैं, फिर दक्षिण समुद्र मे नल-नील के बनाए हुए पाषाण-सेतु के चिह्न अभी तक वर्तमान हैं और वे उसी जमाने के माने जा सकते हैं। संभव है, रामेश्वर का मंदिर बौद्धों के समय के आेर पास का बना हो, रामावतार के समय का नहीं, क्योंकि इतना पुराना मंदिर कोई भी पृथ्वी पर रह नहीं सकता।

कुछ लोगों के सिद्धांत से लंका (सिंहल = सीलोन) में रावण और राघव की जितनी सेना का वर्णन आया है उतनी इस लंका में समा नहीं सकती। वास्तव में उनका कहना ठीक ही है क्योंकि एक उत्तर द्वार पर ही रामायण के अनुसार दश अर्बुद रक्षक और

कुल रावण की सैन्य-संख्या दश कोटि सहस्र थी। इसके सिवाय राघव के रीछ बंदरों की सैन्य-संख्या का अनुमान लगाया जाय तो बिचारे लंका, सिंहल और छत्तीसगढ़ की तो क्या चले, समस्त भारतवर्ष में भी उसका समा जाना मानने के लिये कोई तैयार न होगा, अतः रामायण अथवा पुराणों में कथित विस्तार तथा संख्या बहुसंख्यावाची होने से बहुत अधिक का बोध कराते हैं—और काव्यों में इस प्रकार की अत्युक्ति बहुधा बनी रहती है।

---

(३०) आधुनिक हिंदी नाटक

[लेखक—श्री देवेंद्रनाथ शुक्ल एम० ए०]

हर्ष का विषय है कि हिंदी संसार के विद्वानों का ध्यान अब नाटकों की ओर भी जाने लगा है। नाटक समाज के कल्याण के लिये अत्यंत लाभकर साधन है। कविता मनोरंजन की एक उत्कृष्ट सामग्री है। वही कविता अधिक रोचक तथा हृदयग्राही होगी जो कल्पना से अधिक ओतप्रोत होगी। उपदेशमूलक कविता को काव्य-कला-कौशल की दृष्टि से अधिक ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता। क्योंकि उसमे कवि की कल्पना का तथा उसके रसों का, जो कविता के दो प्रधान अंग हैं, उतना अधिक समावेश नहीं हो सकता जितना स्वच्छंद काल्पनिक तथा भावमयी कविता मे हो सकता है। हम यह कह सकते हैं कि कविता मनोरजन की सामग्री है। सामाजिक सुधार उसका प्रत्यक्ष लक्ष्य नहीं है। अनधिकारचेष्टा करने से वह स्वयं अपने उच्च आसन से च्युत हो जाती है। हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उपदेशमूलक रचना अच्छी हो ही नहीं सकती। वह अच्छी हो सकती है और यदि उसका लेखक विशेष प्रतिभावान् हुआ तो उसकी रचना मे विशेष चमत्कार भी आ सकता है। परतु वह मनोरंजन के साथ साथ अपना काम तभी भली भाँति निबाह सकेगी जब वह उपदश देने के लिये न लिखी गई हो। यद्यपि यह कथन देखने में असंगत सा प्रतीत होता है, परतु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। गोस्वामीजी का रामचरितमानस कविता का सर्वोत्तम ग्रथ माना जाता है। उसमे उपदेश भी कूट कूटकर भरे हुए हैं। परंतु क्या हम उस ग्रंथ की श्रेष्ठता का एक मात्र कारण उसके उपदेशों को ही बता सकते हैं? एक अच्छे काव्य से उपदेश प्राप्त हो सकता है, और अवश्य प्राप्त होगा यदि काव्य अच्छा है, परंतु उपदेश की

दृष्टि से लिखी हुई रचना सर्वथा अच्छा काव्य नहीं हो सकती है। "कबीर-ग्रंथावली" भले ही उपदेश का एक अच्छा ग्रंथ हो परतु उसे एक उत्कृष्ट काव्य मानने के लिये सब कोई प्रस्तुत नहीं है। अँगरेजी साहित्य में विलियम वर्ड्सवर्थ का बहुत ऊँचा स्थान है। वे रोमैंटिक स्कूल के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके पहले टामसन तथा यंग और कूपर की कविता मे भी रोमैंटिक साहित्य के गुण आंशिक मात्रा में वर्तमान हैं फिर भी समुचित रूप से उसका आकार प्रकार निर्धारित करनेवाले कोलरिज तथा वर्ड्सवर्थ ही माने जाते हैं। इन लोगों ने १७९८ मे जब अपनी स्फुट कविताएँ "लिरिक लवैलेड" के नाम से प्रकाशित करवाई तब उसकी भूमिका मे उन्होंने कविता का यथार्थ स्वरूप जैसा समझा था, प्रकट किया। इसी भूमिका में अपने कविता के स्कूल-विशेष की घोषणा करते हुए वर्ड्सवर्थ ने लिखा है कि "कवि का प्रथम कर्तव्य उपदेशक होना है।" परंतु आश्चर्य इस बात का है कि वर्ड्सवर्थ उसी स्थल पर सफल हुए जहाँ उन्होंने अपने इस नियम की प्रत्यक्ष अवहेलना की है। अँगरेजी के नाटकाचार्य जार्ज बर्नर्ड शा इस समय अँगरेजी साहित्यज्ञों मे शीर्षस्थान प्राप्त कर चुके हैं। परंतु आपकी रचनाओं में भी प्रत्यक्ष डाइडैक्टिसिज्म (उपदेश) का दोष प्रचुरता से भरा है और यही कारण है कि गैल्सवर्थ तथा अन्य रियलिस्ट नाटककारों की तुलना में इस दोषविशेष के कारण बर्नर्ड शा महोदय को कुछ अप्रतिभ भी होना पडता है। हमारे इस कथन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि उपदेश देने का लक्ष्य करके लिखी हुई कविता सर्वथा प्रशंसनीय नहीं हो सकती।

परतु उपदेश और मनोरजन दोनों को एक साथ ही प्राप्त करने के लिये साहित्य में अन्य मार्ग भी हैं। वे हैं नाटक और उपन्यास। दोनों का प्रधानतः एक ही उद्देश्य है—समाज के उस चित्र को मनुष्यों के सामने रखना जिसको यद्यपि वह नित्य देखता है तथापि जिससे वह प्रभावान्वित नहीं हो सकता। इस

कर्तव्य को जितनी सफलता तथा प्रभावोत्पादकता से नाटक संपादित करता है उतनी ही मात्रा मे उपन्यास नहीं कर सकता। रंगमंच की सजावट तथा अन्य उपकरणों के प्रभाव के अभाव को यद्यपि उपन्यासकार अपने वर्णनकौशल से पूरा करने का प्रयत्न कर सकता है तथापि वह बात उसमे कदापि नहीं आ सकती जो उन वस्तुओं की उपस्थिति से मनुष्य के विचारों मे उत्पन्न होती है? वह सहज प्रभाव जो बाह्य चक्षु द्वारा प्राप्त हो सकता है कल्पना द्वारा उतनी सुंदरता तथा सफलता से नहीं प्रकट किया जा सकता। इस बात पर विचार करते समय हमे इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि उपन्यासकार का क्षेत्र जितना विस्तृत है उतना विस्तृत नाटककार का नहा है। जो नाटक अभिनय की दृष्टि से लिखे जाते हैं—और "जो नाटक" ही क्यों सभी नाटकों को अभिनीत किए जाने के ही विचार से लिखा जाना चाहिए—उनके लिये यह नियंत्रण बडे महत्त्व का है। वे नाटक के नायक के जीवन भर का इतिहास कुछ नियमित समय अर्थात् ३-४ घंटों मे भली भाँति नहीं अभिव्यक्त कर सकते। इस नियम के पालन की शिथिलता हमें प्राचीन संस्कृत नाटकों मे बहुधा दिखाई देती है। हिंदी के नाटकों मे भी यह दोष प्रत्यक्ष है।

अँगरेजी के प्रसिद्ध उन्यासकार टामस हार्डी का, जिनका अवसान अभी गत वर्ष ही हुआ है, "डाइनैस्ट" नाटक भी इसी श्रेणी का है। उसको नाटक कहा जाय अथवा महाकाव्य इसमें भी लोगों को सदेह है। इससे नाटक की सुदरता बहुत कुछ घट जाती है, क्योंकि पहली बात नाटक के सबंध मे जो कही जा सकती है वह यह है कि "नाटक दृश्य काव्य है न कि श्रव्य।" नाटककार बहुत सी ऐसी बातों का समावेश अपनी रचना मे नहीं कर सकता जिनकी पूर्ति बाह्य साधनों द्वारा ही की जा सकती है। अतएव नाटक की सफलता रंगमंच की सफलता तथा अभिनय-कौशल पर निर्भर है। नाटक के संबंध का दूसरा प्रतिबंध उसका

आकार है। नाटक के लिये यह आवश्यक है कि वह नियमित समय में ही अभिनीत हो सके। इस नियम के कारण नाटककार नाटक के वस्तुविन्यास के घटाने बढाने में स्वतंत्र नहीं है।

समाज के जीते जागते चित्र के प्रत्यक्षीकरण में ही नाटक अपने अस्तित्व की उपयोगिता प्रमाणित कर सकता है। यदि वह इसी काम में सफल न हो सका तो उसका महत्त्व ही क्या रह जायगा? आज-कल लोगों की यह बड़ी पुकार है कि वर्तमान समाज के ही चित्र का दर्शन हमें रंगमंच पर होना चाहिए। बात ठीक है, और यह आवश्यक भी है कि ऐसे नाटक अभिनीत किए जायँ। पाश्चात्य साहित्य मे आधुनिक काल के नाटकों के प्रवर्तक इब्सन माने जाते हैं। इनका इस बात का प्रयत्न, कि नाटकों में "रियलिज्म" यथार्थवाद की परिपुष्टि हो, बडे महत्व का है। इँगलैंड मे नाटकाचार्यशिरोमणि शा महोदय ने इनका अनुकरण किया है।

वर्तमान समाज की अनेक कुरीतियाँ आपके नाटकों के वस्तु-विन्यास की सामग्री बनी हैं। "गैल्सवर्दी" महोदय का रियलिज्म तो और भी ऊँचे दरजे का है। डेढ़ डेढ़ अथवा दो दो पन्ने की भूमिका तो रंगमंच की सजावट की बारीकियों के ही संबंध की प्रति अंक के साथ लगाई जाती है। कितने ही अनपेक्षित नियम जो अभी तक नाटकों के लेखकों के सुरक्षित अधिकार समझे जाते थे अब नाटक के लिये दोष समझे जाते हैं। इसी 'रियलिज्म' की माँग हमारा हिंदी नाटक का प्रेमी समाज लेखकों के सम्मुख उपस्थित करता है। अँगरेजी नाटकों को देखकर ही हमारे साहित्य मे भी इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई है। परंतु इस सुधार के लिये यही आवश्यक नहीं है कि हम सामयिक सामाजिक नाटकों की ही रचना करे। पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाचक्र नाटक के वस्तुविन्यास के लिये उतने ही उपयुक्त हो सकते हैं जितना बीसवीं शताब्दी का भारत। सामयिक घटनाओं पर यदि किसी

नाटक का आधार है तो संभव है २० वर्ष में उसका महत्त्व घट जाने से वह रद्दी की टोकरी में डाल देने के योग्य हो जाय। अमर-रचना ध्रुव सत्य पर अवलंबित होनी चाहिए, न कि क्षणिक काल पर। रामलीलाएँ तथा कृष्णलीलाएँ किसी कालविशेष की घटनाएँ नहीं हैं। वे तो हिंदू संस्कृति तथा उसके जीवन से संबंध रखती हैं। वे कभी पुरानी नहीं हो सकतीं।

नाटक का स्थान तथा उसका कर्तव्य संक्षेप मे देखकर यदि हम आधुनिक हिंदी नाटको पर सरसरी निगाह डालें तो कदाचित् अनुचित न होगा। आधुनिक हिंदी नाटकों के प्रधान आचार्य हैं भारतभूषण भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र। आपने अन्य भाषाओं के नाटकों का अनुवाद करते हुए सुंदर मौलिक नाटकों का भी पर्याप्त संख्या में निर्माण किया है। भारतेंदुजी की रचनाएँ काव्यमयी तो हैं ही, कहीं कहीं पर तो वे उसके अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जातीं। वे पढ़ने की सामग्री हैं न कि देखने की। यह दोष उनके किसी रचना-विशेष का नही है, प्राय उनके समस्त नाटक तथा नाटिकाएँ चाहे वे अनुवादित हों चाहे मौलिक इस दोष के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। उनकी कृतियों को रगमच पर अभिनीत करने का न तो कोई व्यावसायिक कपनी ही साहस करती है और न कोई अव्यावसायिक मडली ही इनके खेलने की क्षमता दिखाती है? इसमें इन दोनों मे से किसी का दोष नहीं है, दोष है स्वयं इन नाटकों का। अभी तक इन नाटकों का कोई ऐसा संस्करण नहीं निकला जो अभिनय के उपयुक्त हो? सभव है, इस क्षेत्र में हिंदी साहित्य के किसी महारथी के अब तक अवतीर्ण न होने का कारण स्वाभाविक संकोच हो, अथवा इतने बड़े मस्तिष्क की कृति मे हस्तक्षेप करने के लिये साहस का अभाव हो। कारण चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, अभाव आपके सम्मुख है। उसकी पूर्ति करना आपका कार्य है।

भारतेंदुजी की रचनाओं में सत्यहरिश्चंद्र नाटक का विशेष स्थान है। नाटक मे आया हुआ यह दोहा कि—

चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत् व्यवहार।
पै दृढ़व्रत हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥

उनके आत्मजीवन पर भी कुछ प्रकाश डालता है।

इसमें करुण रस का ऐसा स्रोत बहा है कि कदाचित् ही कोई पाठक ऐसा होगा जिसने शैव्या के विलापस्थल अथवा राजा हरिश्चंद्र के मर्घट के कर्तव्यपालनवाले अंक को पढ़कर दो आँसू न निकाले हों! चंद्रावली नाटिका सुंदर ब्रजभाषा का एक काव्य है। वास्तव में यही ज्ञात होता है कि चंद्रावली के लिखते समय भारतेंदुजी की काव्यश्री का विशेष विकास हुआ था। "जिन आँखिन मे तव रूप बस्यो तिन आँखिन सों अब देखिय का" अथवा "रावरे विरह मे ये अँखियाँ खुली ही रह जायँगी" आदि पंक्तियाँ किसी साहित्य के कोशागार को प्रकाशित करने में समर्थ हैं। इस नाटिका में तो हरिश्चंद्र ने अपना हृदय ही खोलकर रख दिया है। भावुकता का इससे अधिक परिचय कदाचित् ही कहीं और मिल सकता है। मुद्राराक्षस नाटक यद्यपि अनुवाद है फिर भी भाषासौष्ठव का श्रेय हरिश्चंद्र का ही है और ऐसा सुंदर अवतरण हिंदी भाषा में तो कदाचित् ही और कोई कर सकता है। "अंधेर-नगरी" प्रहसन तो अत्यंत लोकप्रिय हुआ। परंतु हरिश्चंद्रजी के नाटकों के संबंध में सर्वदा इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि ये नाटक अभिनयों मे सफलता कभी नहीं पा सकते। इनकी अस्वाभाविकता या लंबी चौड़ी बातचीत कभी किसी दर्शक को प्रिय हो ही नहीं सकती। फिर भी सत्य हरिश्चंद्र का अभिनय तो काशी की भारतेंदु नाटक-मंडली ने कुछ काट छाँट के साथ किया ही था। भारतेंदुजी की रचनाओं का एक संस्करण श्रद्धेय गुरुवर बाबू श्यामसुंदरदासजी ने अभी हाल में प्रयाग के इंडियन प्रेस से निकलवाया है। अब एक ऐसे संस्करण की आवश्यकता है जिससे उन नाटकों के अभिनय उपस्थित करने में मंडलियाँ क्षमताशील हों।

भारतेंदु जी ने अपने "नाटक" नामक ग्रंथ के अंत में एक तालिका उन नाटकों की दी है जो उस ग्रंथ के लिखे जाने के काल तक हिंदी भाषा में लिखे जा चुके थे। उस तालिका को देखने से यह पता लग सकता है कि उस समय तक हमारे नाटक साहित्य की क्या अवस्था थी।

१ नहुष नाटक	श्रीगिरधरदास
२ शकुंतला	राजा लक्ष्मणसिंह
३ "	श्रीफ्रेडरिक पिंकाट
४ बूढे मुँह मुहासे लोग चले तमासे "बूढा शालिकर" का अनुवाद	बाबू गोकुलचंद
५ अद्भुत चरित्र वा गृहचंडा	श्रीमती (?)
६ तप्ता सवरण	ला० श्रीनिवासदास
७ रणधीर प्रेममोहिनी	" " "
८ कटो कृतांत	श्रीतोताराम भारतबंधु संपादक
९ सज्जादसबुल	श्रीकेशोराम भट्ट विहार " "
१० शमसाद सौसन	" " " " "
११ जय नारसिंहकी	प० देवकीनंदन तिवारी (प्रयाग समाचार संपा०)
१२ होली खगेश	" "
१३ चक्षुदान	" "
१४ पद्मावती	प० बालकृष्ण भट्ट हिंदी प्रदीप स०
१५ शर्मिष्ठा	" "
१६ चंद्रसेन	" "
१७ सरोजिनी	प० गणेशदत्त
१८ "	प० राधाचरण गोस्वामी भारतेंदु संपादक
१९ मृच्छकटिक	पं० गदाधर भट्ट मालवीय

२० मृच्छकटिक—	पं० दामोदर शास्त्री
२१ ”	बा० ठाकुरदयालसिंह
२२ वारांगना-रहस्य	पं० बदरीनारायण चौधरी, संपादक आनंद-कादंबिनी
२३ विज्ञान विभाकर	पं० जानी विहारीलाल
२४ ललिता नाटिका	साहित्याचार्य पं० अंबिका-दत्त व्यास, वैष्णवपत्रिका और पीयूषप्रवाह के संपादक
२५ देवपुरुष दृश्य	
२६ वेणीसंहार नाटक	
२७ गो संकट	
२८ जानकी-मंगल	पं० शीतलप्रसाद त्रिपाठी
२९ दुःखिनी बाला	बा० राधाकृष्णदास
३० पद्मावती	” ”
३१ महाराणा प्रताप	” ”
३२ महारास	म० कु० खड्गबहादुरमल युवराज मँझौली
३३ रामलीला सात कांड	पं० दामोदर शास्त्री विद्यार्थी संपादक
३४ बाल खेल	
३५ राधा-माधव	
३६ वेनिस नगर का सौदागर	बा० बालेश्वरप्रसाद 'काशी' पत्रिका के संपादक
३७ ” ”	बा० ठाकुरदयालसिंह

इन नाटकों के अतिरिक्त इस तालिका में भारतेंदुजी के स्वरचित ग्रंथों का भी नामोल्लेख है। यही कुल निधि हम हिंदी-वालों की ग्यारह सौ वर्ष की साहित्यसेवा के उपरांत नाटकागार में थी। वास्तव में इनमें उज्वल रत्न भी हैं और उनकी ज्योति सर्वदा अपना प्रकाश फैलाया करेगी, परंतु इन रत्नों का उपयोग हम लोग सब स्थान पर और सब काल में नहीं कर सकते। इनमें

से अधिकांश ही क्या प्राय· सबके सब उन्हीं दोषों से भरे हैं जिनका उल्लेख भारतेंदुजी की कतिपय रचनाओं के संबंध में निर्दिष्ट किया जा चुका है।

कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुंतल का अनुवाद कर राजा लक्ष्मण-सिंह ने हिंदी-साहित्याकाश में अपना एक अमर स्थान प्राप्त कर लिया है। अनुवाद तो यह कहने भर को है। इससे अधिक मौलिकता क्या हो सकती है? नाटक सजीव है। संस्कृत श्लोकों का जो अनुवाद इस नाटक में राजा साहब ने हिंदी के छंदों में किया उससे आपकी अपूर्व काव्य-शक्ति का परिचय मिलता है। प्रायः सभी हिंदी के विद्वान् मुक्तकंठ से इसकी प्रशंसा करते हैं और राजा साहब के लिये हिंदी साहित्य के इतिहास मे एक सुरक्षित स्थान रखते हैं।

बाबू राधाकृष्णदास का नाम भी आज हिंदी-साहित्यसेवियों मे श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनकी प्रसिद्धि मे इनके नाटक महाराणा प्रताप ने कुछ कम भाग नहीं लिया है। बहुत दिनों तक हिंदी रंगमंच के सामने सत्यहरिश्चंद्र तथा राणा प्रताप को छोड़कर और कोई नाटक ही अभिनय के लिये नहीं था। न जाने कितनी अव्यावसायिक मंडलियों तथा स्कूल और कालेज की छात्रसमि-तियों ने कितने ही दर्शकों का मनोरंजन इन्हीं अभिनयों से किया है। मुझे स्मरण है कि पुराने सेंट्रल हिंदू स्कूल तथा कालेज की छात्रसमिति के लिये राणा प्रताप का एक परिष्कृत संस्करण अभिनय की दृष्टि से स्वयं बाबू श्यामसुंदरदासजी ने तैयार किया था। इस नाटक मे हिंदुत्व की भावना को जागृत करने के लिये यथेष्ट सामग्री है। राणा प्रताप का चरित्र हिंदू जनता के लिये गौरव का विषय है। जिस प्रकार प्रिंस आर्थर के चरित्र को अँगरेजी साहित्य में अनेक रूपों में प्रदर्शित किया गया है उसी प्रकार राणा प्रताप के चरित्र ने हिंदीवालों को अनेक ग्रंथों का मसाला दिया है। एक समय तो ऐसा आ गया था जब "राणा प्रताप" के अभिनीत किए जाने के लिये जिलाधीश की आज्ञा की अपेक्षा करनी पड़ती थी।

सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया जाय तो यह नाटक भी निर्दोष नहीं है। परंतु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि औरों की अपेक्षा इसमें रंगमंच की दृष्टि से कम दोष है।

पण्डित सत्यनारायण कविरत्न जी ने भवभूति पर कृपा की है। "मालतीमाधव" तथा "उत्तररामचरित" के अनुवाद भी हिंदी नाटकों के विकास के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखते हैं। 'मालतीमाधव' मे भवभूति ने जिस समाज का चित्र खींचा है उसमें तांत्रिक माहात्म्य के प्राबल्य तथा बौद्ध सत्ता के ह्रास का परिचय मिलता है। विदूषक को नाटक मे स्थान नहीं दिया गया है परंतु इससे नाटककार की हास्यप्रियता पर कोई आक्षेप नहीं पड़ता। इस अभाव की पूर्ति उन्होंने अन्य रूप से कर दी है। शृंगार, वीभत्स तथा करुण ही रसों का प्राधान्य इसमे है। भारतेंदुजी के ज्येष्ठ भ्रातुष्पुत्र श्रीकृष्णचंद्रजी ने भी उत्तररामचरित का एक अच्छा अनुवाद किया है। ऊपर की तालिका मे शेक्सपियर कृत "मर्चेंट आव् वेनिस" के दो अनुवादों का उल्लेख है। तीसरा अनुवाद स्वयं भारतेंदुजी ने 'दुर्लभ बंधु' के नाम से किया है। इनके अतिरिक्त शेक्सपियर के अन्य नाटकों के भी अनुवाद अब हिंदी में प्राप्त हैं। "ट्र जेंटलमेन आव वेरोना" "हैम्लेट" तथा "मैकबेथ" और "किंग लियर" के अनुवाद तो मैंने भी देखे हैं। "हैम्लेट" का अनुवाद जयंत, अथवा "बलभद्रदेश का राजकुमार" नाम से प० गणपतिकृष्ण गुर्जर ने किया है और "मैकबेथ" का "साहसेंद्र साहस" नाम से मिर्जापुर के चौधरी मथुराप्रसाद उपाध्याय ने किया है। इन नाटकों में पात्रों तथा स्थानों के नाम बदलकर उनको भारतीय परिधान पहनाने का प्रयत्न किया गया है। परंतु इस दृष्टि से ये नाटक सफल नही हुए। इन नाटकों मे दूसरे ही समाज का चित्र है जो केवल नामपरिवर्तन से ही पूर्ण रूप से दूसरे ढाँचे के उपयुक्त नही हो सकता। इनका वातावरण ही बिना बदले इनका भारतीयकरण कठिन है।

आजकल के उच्च कोटि के नाटककारों में श्रीयुत जयशंकर प्रसाद, प्रोफेसर बदरीनाथ भट्ट तथा श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद हिंदी संसार के चिर सुपरिचित कवि तथा काशी के प्रसिद्ध रईस हैं। आपने "अजातशत्रु", "जनमेजय का नागयज्ञ", "कामना" इत्यादि नाटक लिखकर हिंदी नाट्य साहित्य की अच्छी सेवा की है। हाल में आपने "स्कंदगुप्त" लिखकर उपर्युक्त नामावली में एक और वृद्धि की है। आपके नाटक ऐतिहासिक हैं। प्राचीन भारत का इतिहास हिंदुओं के उत्कर्ष का इतिहास है। आधुनिक काल के इतिहासकार प्राचीन भारत का नियमित इतिहास शिशुनाग वंश से आरंभ करते हैं। इस शिशुनाग वंश के ही छठें राजा महाराज अजातशत्रु हुए। इन्हीं का वर्णन इस नाटक मे हुआ है। अजातशत्रु के राजकाल के आठवें वर्ष मे भगवान बुद्ध के निर्वाण पद प्राप्त करने की बात प्रसिद्ध ही है। अतएव इस नाटक का चित्र ईसा के पूर्व छठीं शताब्दी का ही समझना चाहिए। जनमेजय के नागयज्ञ की कथा पौराणिक आधारों पर अवलंबित है। स्कंदगुप्त नाटक के नायक तो परमवैष्णव परमभट्टारक महाप्रबल गुप्तवंश के पंचम सम्राट् कुमारगुप्त के पुत्र सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य हैं। "प्रसाद" जी ने उस काल की रहन-सहन वेष-भूषा तथा उस समय के वायुमंडल का विशेष रूप से अध्ययन किया है और उसके स्पष्ट चित्रण मे आप भले प्रकार सफल भी हुए हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता विद्वद्वर्य आचार्य राखालदास वंद्योपाध्याय के "करुणा" तथा "शशांक" उपन्यासों की स्पष्ट झलक से बाबू साहब का "स्कंदगुप्त" अंकित है। यथार्थतया आचार्य महोदय के दोनों ही उपन्यास अद्वितीय कृतियाँ हैं और उक्त काल के इतिहास का उपयोग करके जो कोई भी साहित्यसेवी कुछ लिखेगा वह अवश्य आपका ऋणी रहेगा; चाहे वह स्वीकार करे अथवा नहीं। बाबू जयशंकर प्रसादजी के नाटकों की भाषा नाटकों के उपयुक्त नहीं होती। नाटक की भाषा सर्वदा बोलचाल की होनी

चाहिए। साहित्यिक बनावटी शैली नाटकों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। समझ में नहीं आता कि नाट्यशास्त्र के ऐसे उत्कट विद्वान् होते हुए भी प्रसादजी निरंतर वही शैली क्यों पसंद करते हैं। यह सब होते हुए भी ये नाटक साहित्यिक हैं और इतना गुण ही इन्हें अमरत्व प्राप्त कराने के लिये पर्याप्त है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी के अध्यापक पंडित बदरीनाथ भट्ट भी हिंदी नाटकों के सुलेखकों मे से हैं। आपकी रचनाएँ भावपूर्ण तथा सुंदर हैं। भाषा भी श्री जयशंकर प्रसाद की भाषा की अपेक्षा सरलतर है। लेखकजी के उद्योग से आपके कुछ छात्रों ने आपके संतोषार्थ आपकी "दुर्गावती" का अभिनय किया था, परंतु "नाटक के कुछ अंतर्हित दोषों के कारण" वह सफल न हो सका। अभिनय की दृष्टि से "प्रसादजी" अथवा "भट्टजी" किसी की रचना दोषमुक्त नहीं है।

हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुक्त जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसन बड़े ही मनोरजक हैं। आपने प्रसिद्ध फ्रेंच कमीडियन मोलियर का ही अनुकरण करने का प्रयत्न किया है परंतु आपके प्रहसनो तथा मोलियर की कामेडियों मे बड़ा अतर है। उस अतर का कारण है दृष्टिकोण का पार्थक्य। युरोपीय साहित्य मे "कामेडी" का स्थान "ट्रैजिडी" से किसी भाँति कम नहीं है परंतु भारतीय साहित्य मे कोरी "ट्रैजेडी" के अभाव में "कामेडी" ही एकमात्र नाटक का स्वरूप बन बैठी। ये "कामेडियाँ" (सुखांत नाटक) जीवन की गंभीर समस्याओ पर भी जब प्रकाश डालने लगीं तो स्वभावत साधारण कोटि के सस्कारों के व्यक्तियों के मनोरंजनार्थ उनसे कुछ उतरकर प्रहसनों की सृष्टि की गई। अँगरेजी में इन्हीं प्रहसनों के रूप को फार्स कहते हैं। हमारे श्रीवास्तवजी भी प्राय: इसी प्रकार के हास्य का अवतारण करते हैं। आपका हास्य, विषय तथा भाव को विद्रूप करने मे उतना समर्थ नहीं है जितना कि भाषा को विद्रूप करने मे। आपके हास्यरस के विषय

में एक बात और विचारणीय है। आपके हास्यरस का विषय आपको प्राय: जीवन की कुछ विशेष परिस्थितियों में ही प्राप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ आपका स्कूल जीवन का चित्र रखा जा सकता है। जैसे सफल आप इस जीवन के चित्रण में हुए हैं उतना, मेरे विचार से तो, कदाचित् ही कहीं और आप सफल हुए हैं।

परंतु उच्च कोटि का साहित्यिक नाटक जो अभिनय की दृष्टि से भी सफल हुआ हो मेरे विचार में तो प्रयाग के पंडित माधव शुक्ल का "महाभारत" ही अब तक प्रकाशित हुआ है। भाषा चलती, मुहावरेदार तथा गठी हुई, भाव उच्च तथा गंभीर, कविता मनोहारिणी और विनोद शिष्ट सौम्य तथा मुस्क्यान लानेवाला है। अभिनय मे भी यह सर्वथा सफल रहा है। वास्तव में इस समय हिंदी में हमें ऐसे ही नाटको की आवश्यकता है। कुछ लोगों का विचार है कि पौराणिक काल के नाटको से हमारा क्या लाभ हो सकता है, हमे तो इस युग में रहना है और इसी समाज का चित्र हमे सुधारने मे समर्थ हो सकता है। इनके इस कथन मे सार अवश्य है परंतु क्या हम उनसे यह पूछ सकते हैं कि क्या पतित-पावन भगवान् रामचंद्र तथा कृष्णचद्र की जीवनियों से कुछ भी प्रभाव इस देश मे उनके काल के बाद नहीं पडा? क्या कृष्ण और राम किसी काल-विशेष की ही निधियाँ हैं? ये हमारे चरित्र को शुद्ध बनाने तथा उसको शक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं। उनका आदर्श हमें अपने जीवन के आदर्श पर दृढतापूर्वक आरूढ रहने का साहस प्रदान करता है। उन्हीं के आधार पर हम आज अपना जीवन चला रहे हैं। भला ऐसे पावन चरित का अभिनय हमारे चित्त को कभी उबा सकता है?

इन नाटकों के अतिरिक्त लाला भगवानदीनजी का "सोनारानी" तथा प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीयुक्त प्रेमचंदजी का "कर्बला" भी आधुनिक नाटकावली मे अपना स्थान रखते हैं। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि ये दोनों ही कृतियाँ इन धुरंधर आचार्यों की

लेखनी के उपयुक्त नहीं हैं। अध्यापक रामदास गौड़ का "ईश्वरीय न्याय" तथा पंडित गोविंद शास्त्री दुगवेकर का "सुभद्राहरण" तथा "हर हर महादेव" भी अच्छी कृतियाँ हैं। भारतेंदुजी के ही समकालीन पटनावाले पंडित विजयानंदजी त्रिपाठी ने महाकवि भास-प्रणीत "स्वप्न-वासवदत्ता" का हिंदी में अच्छा गद्यात्मक अनुवाद किया है। पांडेय बेचन शर्मा उग्र ने इधर कुछ क्रांतिकारी उपन्यास निकाले हैं परंतु इस ख्यातिलाभ के पूर्व आपने 'महात्मा ईसा' लिखकर शहीदों में अपना नाम लिखा लिया। आपने अभी अपना "चुंबन" देने की घोषणा की है परंतु अभी तक वह प्राप्त नहीं हुआ है।

इन साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त आजकल कुछ नाटक-लेखक स्टेज के उपयुक्त नाटक लिखा करते हैं। ऐसे नाटककारों में निम्नलिखित सज्जनों ने यथेष्ट प्रशंसा प्राप्त की है। श्री राधे-श्याम कथावाचक, आगा हश्र, श्री तुलसीदत्त शैदा, श्री हरिकृष्ण जौहर तथा श्री नारायणप्रसाद बेताब। इन्हीं महानुभावों के अध्यवसाय का यह फल है कि आज दिन पारसी स्टेज पर भी हम हिंदी नाटकों का अभिनय देख सकते हैं। परंतु यहाँ पर कदाचित् एक बात कहना अनुचित न होगा। वह यह कि यद्यपि इन लोगों ने नाटकों को हिंदी का रूप तो दे दिया है परंतु उसकी वह "पारसी" आदत नहीं दूर कर सके। इससे जहाँ पर मातृभाषा के लिये हम इनके कृतज्ञ होते हैं वहाँ उसी के उस विद्रूप पर हमें लज्जित होना पड़ता है। इस समय पारसी स्टेज पर हिंदी के नाटक वैसे ही जँचते हैं जैसे किसी मुसलमान के सर पर चंदन का त्रिपुंड्र। पारसी स्टेजो के अभिनेता उर्दू के नाटकों का तो जैसा तैसा अभिनय कर भी लेते थे परंतु इनके नाटकों के लिये तो ये सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इन नाटकों में न तो वह विशद चरित्र-चित्रण है, न मानसिक भावों के घात प्रतिघात ही हैं जो किसी ग्रंथ को साहित्य में ऊँचा स्थान दिला सकते हैं। ये नाटक स्थायी साहित्य का निर्माण कदापि नहीं कर सकते।

आधुनिक हिंदी नाटकों का यह संक्षिप्त परिचय देने के बाद वर्तमान स्टेज पर भी एक दृष्टि डालना कदाचित् अनुचित न होगा। उत्तर भारत में हिंदी नाटकों के अभिनय करनेवाली जितनी कम्पनियाँ हैं वे सभी पारसी महानुभावों द्वारा संचालित तथा पारसी अभिनेताओं से ही भरी हुई हैं। इनकी विशेषता इनके कृत्रिम अभिनय में ही लक्षित होती है। "पारसी ऐक्टिंग" का अर्थ ही आज कृत्रिमतापूर्ण ऐक्टिंग है। अभिनय-कला का मुख्य उद्देश्य किसी कालविशेष के कुछ व्यक्तिविशेषों के घटनाचक्र का चित्र उपस्थित करना है। इस काम मे वही सफलता प्राप्त कर सकता है जो स्टेज पर उन पात्रों के भावों की यथार्थ अभिव्यंजना कर सके। यद्यपि अभिनेता मे उस व्यक्ति के यथार्थ भावों का, जिसका वह अभिनय करता है, उद्रेक नहीं हो सकता किंतु उसका बनावटी प्रदर्शन तो हो सकता है। इसी प्रदर्शन की सफलता पर अभिनय की सफलता निर्भर है। दर्शकों को जब यह धोखा हो जाय कि क्या वास्तव मे यह वही व्यक्ति है जिसका यह अभिनय करता है तभी अभिनय की यथार्थ सफलता प्रतीत हो सकती है। परंतु दुर्भाग्य से आधुनिक भारतीय अभिनय कला में अभिनेताओं को केवल इस बात की शिक्षा दी जाती है कि सुग्गे की भाँति वे अपना पार्ट रट डालें और स्टेज पर आकर कुछ विशेष प्रकार से हाथ पैर फटकारें। यही उनका अभिनय-कौशल है। पुत्र-शोक का संवाद लाते हुए भी ये उतने ही ज़ोर से गर्जते हैं जितना युद्धक्षेत्र मे वैरी को सामने देखकर। अपनी प्रेमिका से प्रेमालाप करते हुए भी यही ज्ञात होता है मानो साल्ट टैक्स का विरोध करते हुए ये राष्ट्रसभा मे व्याख्यान दे रहे हैं। यही सब कृत्रिमता नाटक को घृणास्पद बना देती है।

आधुनिक अभिनयों का दूसरा मुख्य दोष है संगीत-बाहुल्य। पति-वियोग-कातरा विधवा दुःख प्रकाश करते हुए पहले तो गद्य में ही एक लंबी स्पीच दे डालती है जो स्वयं ही कुछ कम

अस्वाभाविक नहीं है, तदुपरांत हारमोनियम बजने लगता है और संगीत का रोना प्रारंभ होता है। एक व्यक्ति पहले दूसरे व्यक्ति से जूती पैजार करता है और बाद में दोनों गाने लगते हैं। कितना उपहासास्पद अभिनय हो जाता है? हम यह मानते हैं कि अभिनय में कृत्रिमता का एक प्रधान भाग है परंतु भारतीय नाट्यकला में ही इसकी इतनी अधिक प्रचुरता क्यों? भावों का प्रदर्शन करते समय स्पष्टता पर अधिक ध्यान देना चाहिए, आवश्यकता हो तो काव्यमय भावुक रचनाओं का भी समावेश किया जाय किंतु इसकी क्या आवश्यकता है कि वे वाद्ययंत्रों द्वारा ही व्यक्त किए जायँ। इनसे स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। शेक्सपियर के नाटकों में कुसमय गायन का आयोजन कभी नहीं होता। शा या गैल्सवर्दी भी कभी इस बात की आवश्यकता नहीं प्रतीत करते कि बिना बेअंदाज गायनों को भरे उनका नाटक अच्छा न हो सकेगा। या तो कभी आमोद प्रमोद का कोई विशेष सीन होता है जहाँ गाना रखा जाता है अथवा जब विदूषक आदि से गाने का आदेश किया जाता है तब हारमोनियम बजता है। हमे दूर जाने की आवश्यकता नहीं। हमें यही देखना चाहिए कि हम जीवन के किस अवसर पर स्वयं गाते हैं और किस समय पर औरों को गाते हुए देखते हैं। वहां यह नहीं है कि जब कभी नाटककार को सनक आ गई, उसने तुरंत रख दिया एक गाना।

इन अभिनयों मे एक दोष जो सबसे अधिक खलता है, वह है इन लोगों का अस्वाभाविक बोलचाल का ढग। राधेश्यामजी ने इस तुकबंदी बोलचाल को हद ही कर दी है। अन्य लोग भी कुछ इससे बचे नहीं हैं। आजकल के पाश्चात्य रियलिस्ट स्कूल के नाटककारों ने "स्वगत भाषण" की तो एक प्रकार से प्रथा ही उठा दी और यह सर्वथा उचित भी है। इससे अस्वाभाविक और क्या हो सकता है कि हम इस बात की कल्पना कर सकें कि जो कुछ हम कहते हैं वह हमारे बिलकुल पास खड़ा हुआ व्यक्ति नहीं सुन रहा

है। आजकल की पारसी कंपनियों ने तो नाटकों को तय्यार करने का खर्च इतना बढ़ा दिया है कि साधारण पैसेवाली समितियाँ इस काम को उठा ही नहीं सकतीं।

इन दोषों की लोग उपेक्षा भी कर देते यदि ये दोष निकृष्ट श्रेणी की कुछ ऐसी कंपनियों में पाए जाते जो अशिक्षित तथा मूर्ख दर्शकों के सामने अपना अभिनय करती होतीं, परंतु जब हम देखते हैं कि यह दोष शिक्षित मंडलियों में भी उसी मात्रा में है तो लज्जा से आँख नीची हो जाती है। इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षित समुदाय द्वारा एक आंदोलन किया जाय जिससे इन त्रुटियों का संशोधन हो और हिंदी साहित्य में भी नाटकों को वह स्थान प्राप्त हो जो अन्य साहित्यों में उसको प्राप्त है।